UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178768

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83-1/S616 Accession No. 42781

Author सिंह, राधिकारमणप्रसाद

Title सोहनी हिंदी

This book should be returned on or before the date last marked below.

श्रीराजराजेश्वरी-साहित्य-मन्दिर का तृतीय पुष्प

गाँधी टोपी

लेखक

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, एम० ए०

प्रकाशक

श्रीराजराजेश्वरी-साहित्य-मन्दिर,

सूर्यपुरा, शाहाबाद (बिहार)

पाँचवाँ संस्करण

दो रुपए

१९५७

मुद्रक

श्री सुरेश कुमार

अशोक प्रेस, पटना—६

समर्पण

माननीय बिहार-केसरी

श्री श्रीकृष्ण सिंह जी की

सेवा में।

मान्यवर!

जेल की तपिश में भी जिसकी ताजगी में कभी आँच न आई, मसनद की रंगीनी में भी जिसकी सादगी पर कभी रंग न चढ़ा, उसी गाँधी टोपी की बुलन्दी में, मन्त्रित्व से इस्तीफ़े देकर, आपने चार चाँद लगा दिये! सर से ताज उतार कर आपने दुनिया की आँखों में उगलियाँ डाल कर दिखा दिया कि जो सर खुद ऊँचा है, वह किसी ताज का मुहताज नहीं। पद की मर्यादा इस त्याग की मर्यादा के पद पर लुण्ठित पड़ी है।

गाँधी टोपी की बन्दापरवरी में जनता की जो श्रद्धा है, वह आपके माहात्म्य का दान पाकर दुगुनी हो उठी है। आज बिहार का ज़र्रा-ज़र्रा आपके हृदय की विभूतियों का हामी है। मैं भी इस अवसर पर श्रद्धांजलि की एक छोटी-सी डाली सजाकर लाया हूँ।

सूर्यपुरा
२५-२-३८

विनीत—
राधिकारमण प्रसाद सिंह

गाँधी टोपी

विषयानुक्रम

गाँधी टोपी	...	....	१
दरिद्रनारायण	....	....	४३
पैसे की घुघुनी	....	...	५५
एक अनुभूति	....	....	८६
'इस हाथ दे उस हाथ ले'		....	९९
ज़बान का मसला	...	....	१२७

१

मिश्रजी की मूछें कड़ी न रहतीं, तो अभाव की तड़ी बेभाव की नहीं पड़ती। मलाई की मलाहियत पर पली हुई ज़बान छाछ के छूछेपन पर तिलमिला उठी। बचपन से जिस आँगन में केसर के क़राबे घोल आये, इत्र के फव्वारे खेल आये, वहीं होली की रात अँजुरी भर गुलाल से झोरी भरते हाथों में थरथरी आने लगी। तायफ़ों के तरानों से जिस महल की दीवार आठों पहर सरगर्म रहती, वहाँ जुगानी के गले का लहरा फागुन की मस्ती उभारने में कहाँ तक पुर-असर होता!

उनके दबदबा का दायरा सिकुड़ कर गाँव के एक कोने तक रह गया। बाप-दादा की विशाल सम्पत्ति कन्नूमल सेठ ने अपनी देन में खरीद ली। उनके घर के ईर्द-गिर्द जो थोड़ी-सी ज़मीन उनके तख्ते में थी, वहीं दस-बीस घर रैयत अभी तक उनके रोब की टिमटिमाती लौ को उकसाए बच रहे थे। हाँ, एकाध मौज़ा के चूर-चार ज़रूर थे, मगर वे भी कर्ज के भार से दब चुके थे। पचास-साठ बीघे डीह की काश्त ग़नीमत थी। यों तो गाँव में उनका मौरूसी रोब ज़रूर था, पर उसकी

तह में न आब थी, न ताब। जब रियासत की रौनक़ी न रही, तो फिर परम्परा की खोखली पाबन्दी उपहास की चुटकी-सी हो गई।

गाँव के दामन पर जो मुरली-मनोहर का मनोहर मन्दिर है, वह भी उनके हाथ से सरक गया। मन्दिर से लगी काफ़ी ज़मीन है, उससे खासी आमदनी है। वह तमाम आमदनी आज सेठजी के इन्तज़ाम में है। मिश्रजी के पितामह ने घर का सोना गला-गला कर इसी मन्दिर की चूड़ा पर सोने का पानी चढ़ाया था। आज वही सोने का पानी उनके चेहरे के पानी पर पानी फेर देता। जब उस चमक पर निगाह जाती, तब दिल तड़प कर बैठ जाता।

हाँ, उनकी ज़मींदारी तो कमी, उनकी वज़ेदारी नहीं कमी। कानों से न मोतिया के फाहे उतरे, न उँगलियों से नीलम के छल्ले। आज भी होली में कुंकुम से कुमकुमे भरे जाते—दो-चार ही सही। आज भी तौज़ी में दूध के मालपूए बाँटे जाते—एकाध ही सही।

पुरानी धज अभी मिटी न थी। भाजी तेल में जो पके, दाल में घी जरूर था। तश्तरी में तबक़दार बीड़े की लड़ियाँ न हों, केवड़े से पगी गिलौरियाँ आठो पहर मौजूद थीं। दरवाजे पर नौबत न झड़ती हो, पर ड्योढ़ी के भीतर हाली-मुहाली की सुरीली डफली सुबह-शाम ज़रूर सुर भरती। एकाध

मुँहलगे लगे रहते। उनकी ज़बानी जी-हुज़ूरी मिश्रजी की दर्द-सरी भी थी और दिलचस्पी भी।

महाजनों के देन में ज़मींदारी चिराग़ की गर्मी जो ठण्ढी पड़ी हो, पर भगवान् की देन उनके दिमाग़ की गर्मी उस दुर्दिन के दैन्य में भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। पद्मा लाख समझाती—उनको ज़माने की रविश दिखलाती, पर कहीं प्रकृति भी नीलाम के तख्ते पर चढ़ती है? समझ के मशविरे को लहू भी सुनता है?

जब उन्होंने देखा कि हाथ के डंडे में अब वह क़ुदरत न रही, तो एकाएक भैरव के गंडे की सुध आई। वह मैदान न रहा, तो यह मैदान तो ब्राह्मण का सनातनी है। जायदाद की शान की जगह जात की आन दून पर हो उठी। ज़मींदारी ठाट की जगह पूजापाठ का सिलसिला चला। बस, प्रवृत्ति निवृत्ति के रूप में सामने आई। उसने लाठी रख दी, सुमिरनी थाम ली। वे पूरे पण्डित बन गये।

ललाट पर वैष्णवी फटाका से धर्म की पताका तो उड़ी, पर आँखों के सामने पट्टीदार साहूकार की पत्नी की कलाई पर कटकी कड़े का बाँकापन लोहे की शलाका की तरह चुभता रहा।

रगों में पैबस्त अमारत की लत कहाँ तक ख़ुदकुशी पर तैयार होती! हाँ, रामनामी के सहारे एक हद तक उनकी

शानबान का वितान टिका रहा। वह चाँदी का चँदोवा तो हो न सका, पर अभाव की चिलचिलाती धूप के बचाव की एक छाँह-सी जरूर हो गई।

उनको अपनी अकड़ निबाहनी जरूरी थी। मगर बीसवीं सदी में पारलौकिक-प्रपंचों की डफली सूने घर में मस्ताना सुर उठा न सकी। कनकचित्तियों की झनकार से मुखरित प्राण चन्द चाँदी की रुपल्लियों पर कहाँ तक उभर पाते! ऋषि कश्यप की नस्ल की बरकत इस बौद्धिक युग में कहाँ तक फ़ितरत पैदा करती! शिखा और सूत्र, पोथी और पत्रा उनके चेहरे के उतरते ताव को एक हद तक गरम तो रख सके, मगर फटफटाती जेब को गरम रखना उनके बूते की बात न थी। और फिर जेब ही की गर्मी तो दिल और दिमाग़ की गर्मी की कुंजी है।

❀ ❀ ❀

साल जाते-जाते एक नया गुल खिला। झगड़े की बुनियाद हुआ जोगीड़े का नाच। महल्ले के मनचलों ने जुगानी खड़ी की थी। दामन और चोली की तरह गाँव में जुगानी और होली है। जब वह अड्डे से उठती, सबसे पहले मिश्रजी की ड्योढ़ी पर आकर होली को सलामती छेड़ती। जब आई, दूर से गाती हुई आई—'महाराजा उड़ावे गुलाल, अँगिया भींजि गई।' जब जाने लगी, बिदाई की कड़ी गाती हुई गई—'सदा

आनन्द रहे यहि द्वारे, मोहन खेलैं होरी।' सलामती की दुआ देकर गरीब के कप्तान बँधी-सधी दस्तूरी अपनी अंटी में बाँध लेते।

अब यह दस्तूर गाँव के कलाँ पट्टीदार को क्योंकर कबूल होता ? सेठजी को तो खास आपत्ति न थी, पर उनके मुसाहबों ने उनके कान भरते-भरते उनके कान थाम लिये। आखिर मिश्रजी महज़ दो आने के हिस्सेदार ठहरे। फिर उनके दरवाजे पर यह पहली सलामी कैसी !

सेठजी ने दुगुनी दस्तूरी की मुनादी कर दी। घर-घर डौंड़ी पिट गई।

बस, तनातनी चली। यारों ने अच्छा मौक़ा पाया। मिश्रजी के हाथ में लाठी भी थी, सुमिरनी भी। उनके तन पर तनज़ेब भी था, यज्ञोपवीत भी। वे कब सेठ के ताव में आते ! यारों ने भी भरा—'बनिया बक्काल ! उसकी यह मजाल ! वाह ! मेंढ़की ने भी नाल बँधाने को टाँग उठाई ! हुँह ! कलतक हज़रत तराजू पर तरबूजे तौल रहे थे !'

गाँव में दो दल छँट गये। साहूकार ने ज़मींदारी का जंजाल मोल लिया था ज़रूर, मगर ज़मींदारी की तकरार मोल लेने को तैयार न था। उसके सामने मूछों के ताव से सूद का लहाव ज्यादा पुर-आब था। वह माल ढूँढ़ने आया था, जमाल नहीं। उसे कौड़ी-कौड़ी लगान की वसूली से ग़रज

था, ड्योढ़ी पर गले की तान की सलामी से नहीं। मगर उस चकोह से बच कर वह जाता कहाँ ? मिलकियत का घूँट पीकर वह निर्लिप्त कैसे टिक पाता ? आखिर खिंच कर आ पड़ा।

शाम को जब शोरगुल मचा, मिश्रजी बिलकुल तैश में आ गये। उन्होंने जपमालिका से हाथ निकाला और लट्ठ थामा। उनके सर एर भंग तो चढ़ी थी ही, यारों ने उन्हें चंग पर भी चढ़ा डाला।

पद्मा दरवाजा रोक कर खड़ी हो गई।

मिश्रजी ने उसे झटका देते हुए कहा—'पद्मा ! सदियों से इसी ड्योढ़ी पर होली की सलामी रही। यह हमारी मर्ज़ी नहीं, सनातन की मर्ज़ी है।'

'हाँ, मगर अब यह ड्योढ़ी वह पुरानी ड्योढ़ी न रही। आज वह गाँव के मालिक की ड्योढ़ी होती !.....'

'मेरे जीते-जी इस ड्योढ़ी को ना-क़दरी !'

'आप को पता है, आप कितने पानी में हैं ?' पद्मा ने ज़रा तुर्श होकर पूछा।

'मेरे सामने तो बस मुँह का पानी है। वह न रहा, तो समझो, मैं भी न रहा। हटो, जाने दो।'

'आप मेरी लाश ही पर जायँगे। मैं यों जाने न दूँगी।'

'तो तुम मेरी लाश ही रोक रखोगी। मैं इस तन को तोड़ कर भी उड़ जाऊँगा।'

पद्मा किवाड़ से सरक गई। मिश्रजी ज़न्नाटे के साथ बाहर निकल गये।

गोली बन्दूक की नाल से बाहर निकल गई।

कहाँ होली, कहाँ लहू की होली मची। जुगानी के नाच पर छीना-झपटी जो चली, वह धींगा-मुश्ती की सीढ़ियों से चढ़ती हुई लठ्ठबाजी की चोटी तक पहुँच गई। दोनों दल गुँथ पड़े।

मिश्रजी की कड़ाके की ललकार नंगी तलवार-सी टूट कर जाती। कितने घायल लहू-लुहान हुए! होली के रँगीले लहू के रंग में शराबोर हो चले।

आखिर जब जोश ठंढा पड़ा, तो होश आया। नशा उतरा, डर सवार हुआ।

मिश्रजी लठ्ठबाजी में तो भभक कर भिड़े थे, पर फ़ौजदारी में भिड़ने की हिम्मत न थी। उनकी आँखें जब खुलीं, तीनों लोक नज़र आ गये। नाक तो बची, पर क़ानून की कैंची से कान बचाते-बचाते पित्ते पानी हो गये। दुम दबाने के सिवा मूछें खड़ी रखने का कोई और ज़रिया न था। वे ऐन होली की रात फ़रार हो गये।

घर छोड़ते उनकी जान पर बीती, पर मान बचाने की दूसरी तरकीब न थी। पद्मा की गोद में छोटा बच्चा था—बुन्नू। उसी को देख कर वे जीते थे। अब जाने उसे कब देखेंगे।

पद्मा पर वे खीझते भी थे—रीझते भी थे। खीझते—चूँकि पद्मा जरूरत से ज्यादा पढ़ी-लिखी थी। वह उनसे सीख की भीख न लेकर खुद सीख दे बैठती। उनकी लनतरानियों के परदे में छिपी हुई उनकी प्रवृत्ति की खामियों के कान थाम लेती और तर्क की रोशनी में घसीट लाकर तमाम कच्चे-चिट्ठे उघार कर धर देती। रीझते—चूँकि पद्मा की छाती में त्याग और सेवा की सत्ता थी। वे जब कहीं ठोकर खाकर गिरने पर आते, वह कंधे लगा कर सँभाल लेती। कहाँ उसका भार उनको ढोना था, कहाँ उनका भार वह ढोती फिरे—यह उलटी नीति उनकी शान के मुँह पर लानत देती, उनके दिल के भीतर राहत देती।

पद्मा ने जेवर गिरो रख कर मुकदमे की पैरवी की। मिश्रजी तो कहीं दूर बहनोई के घर रू-पोश थे। वह अकेली लड़ी और खूब लड़ी। मामला संगीन था। उसे एड़ी का पसीना चोटी तक लाना पड़ा। उसने पति की पत रख ली। वे छूट तो गये; पर कमर टूट गई। उनके संगी बँध गये। ज़मीन फँस गई। गाँव में मुँह दिखाने के लिए उनके पास मुँह तक न रहा!

२

बहन के घर डेरा बाँधने से मौत के घर डेरा बाँधना कहीं अच्छा है। मगर मौत के घर बे-बुलाये तो कोई जा नहीं पाता। मिश्रजी ज़बानी अर्ज़ी पेश कर रह गये। उस दरबार से कोई सूचना न मिली। हार कर बहनोई के घर बसे रहे। अपने घर वे कौन मुँह लेकर जाते? जाना ही होता, तो मौत के घर न जाते!

बच्चे का मुँह देखने के लिए उनकी जान जाती थी। जेवरों से सूनी पद्मा का मुँह देखने की उनकी हिम्मत न थी। गाँव में जाकर किवाड़ तोड़-तोड़ कर खाने से ज़हर खा लेना उनके लिए कहीं आसान था। बहनोई के घर बैठे रोटियाँ तोड़ने से जंगल की टहनियाँ तोड़ना वे अब हज़ार दर्जे पसन्द करते।

उनके बहनोई शहर के नामी रईस थे। पाठक जी के फाटक पर डिप्टियों की मोटरें भी थम कर आतीं। गाँधी टोपी के ज़रिये उनका शुमार देशसेवकों में था। महाजनी की कोठी के ज़रिये प्रतिष्ठितों में भी।

कांग्रेस में तो पैठ थी ही, सरकार में भी पूछ थी। राष्ट्र की मुरली की धुन पर वे नाच तो उठते, पर कुल की मर्यादा के आँगन के बाहर घुँघरू बाँध कर थिरकें—यह पागलपन उनमें न था। श्याम की मस्ती भी हो, कुल की पाबन्दी भी—दोनों को एक साथ निभाने के वे क़ायल थे।

बहनोई के रंग-ढंग को वे देखते और दिल-ही-दिल दाँतों तले उँगली काटते। उनको भी अगर कोई मौक़ा मिलता, तो वे पाठकजी के भी कान तराश लेते। मगर वे दिल मसोस कर रह जाते। वे तो अभागे का भाग लेकर इस ज़मीन पर आये; तमाम दरवाज़े बन्द पाते।

साल खत्म होने पर आया, मगर ज़िन्दगी का जाल खत्म न हुआ। उनका हाल बेहाल ही रहा।

एक दिन बहनोई के रू-ब-रू, अचानक बात छिड़ ही गई।

'मैं देखता हूँ, अब तो खुरपी लेकर धरती ढीली करनी पड़ेगी।'—मिश्रजी ने एक आह खींच कर कहा।

'बस, हो गई धोती ढीली ? मर्द बनते हो! आखिर तुम्हारी पुश्तैनी परलोकगीरी की दूकान····।'

'इस बीसवीं सदी में ? कोई खरीदार भी तो हो !'

'हाँ, धर्म का बाज़ार तो मन्दा है। आजकल तो बस गाँधी टोपी का बाजार गर्म है। उसे क्यों नहीं अजमाते ?'

'गाँधी टोपी ? वह फक्कड़ी ?'—मिश्रजी ने ज़रा हँस कर कहा।

'अजी, इस फक्कड़ी के आगे तो हैटों की हेंकड़ी भी चौकड़ी भूल गई ! भाई साहब, टोप को टोपी टप गई—राजाओं की कलँगी तक फिसड्डी हो गई !'

'सो तो है, मगर..... ।'

'इसी फक्कड़ी में आज कुदरत की बरकत भरी है। तुम आँख रखते देख नहीं पाते खादी की करामत ? अजी, किसी गधे के सर पर गाँधी टोपी रख दो, वह दो दिन में लोट-पोट कर खासा आदमी बन बैठेगा ! खादी की सफ़ेदी ज़िन्दगी की तमाम स्याही पर सफ़ेदी फेर देती है। इस लीपापोती का कहीं पर्दाफाश है ?'

'काश खादी की टोपी वह तिलस्मी टोपी होती कि सर पर चढ़ी नहीं और दिल तक उतरी नहीं।'

'अजब घोंघाबसन्त हो ! मैं पूछता हूँ, दिल की तलाशी कोई खेल है ? आज कितने जाहिल और निठल्ले इसी टोपी के इक़बाल पर नम्बरी लीडर बन गये !'

'भाई, मैं तो इस कूचे में कभी आया नहीं। मुझसे गाँधी टोपी की नाज़बरदारी..... ।'

'वाह ! तुम तो ज़मींदार, चँवरबरदार—तुम्हें सिद्धान्त से ग़रज़ ? तुम तो सरकारी साज के तबलची ठहरे ! अब तो

गाँधी टोपी मुहताज नहीं। वह ताज का रुतबा पाने चली। कल मिनिस्टरी के अखाड़े में ताल ठोंकेगी। फिर इसकी नाज़बरदारी तुम्हारी रोटी होगी। क्यों भूलते हो? हुकूमत की क़दमबोसी तो तुम्हारे सात पुश्त की बपौती ठहरी! बस, दरबार की हवा देखी और ज़िन्दगी पर पाल पलटा। पर बदलना तो तुम्हारे खमीर में है—'बसन्त में बुलबुल और बरसात में परवाना!'

'मगर गाँधी टोपी हमारी रोटी तो न होगी?'

'भाई साहब, खद्दर के कुरते में भी जेब होती है! वह भी चाँदी की मीठी-मीठी आँच से गर्म हो जाती है। आज खादी की चादर ही सदाक़त की पताका है—रामनामे की चादर नहीं। देश की बोली हो और खादी की झोली—फिर छूट कर होली खेलो! गाँधी टोपी की आड़ में गांधीत्व की गाय खुले-बाज़ार भी हलाल करो, तो कोई माई का लाल चूँ तक नहीं कर सकता।'

'यह भेड़ की खाल में भेड़िये की तड़प! आखिर दुनिया क्या कहेगी?'

"दुनिया? तुम्हें खोपड़ी हो तो दुनिया तुम्हारी आरती उतारेगी। उसे हाथ की कठपुतली बना रखना तो बाएँ हाथ का खेल है!"

'सो तो है, मगर देश की मुराद तो ताक पर रह गई!'

'पहले ज़िन्दगी की मुराद तो पूरी करो! देश की मुराद

पूरी करने के लिए तो तमाम ज़िन्दगी धरी रखी है। देश-सेवा की तह में जो प्रेरणा है, वह केवल दिल ही से उठती है ?—दिमाग़ से नहीं—पेट से नहीं ? उस प्रेरणा में निछक्का देश ही की मुराद है या साथ-साथ स्वार्थ का भी हाथ है—इसकी छानबीन हो, तो कितने गाँधी-टोपियों की सुफेदी खरी उतरेगी ? आज जनता की भलाई के प्रयास के तले हमारी अपनी बड़ाई की प्यास मिली नहीं रहती ? हमें नाम की चाह न होती तो हम खामखाह ग़रीबों की आह को टटोलते फिरते ? उन बेचारों के हाथ वोट की शक्ति न आती, तो उनके खाली पेट की डुगडुगी पिटती ? उनके नालों पर नारे बुलन्द होते ? उनके दर्देसर से लीडरों को दिलचस्पी होती ? ग्राम का रिफ़ार्म हमारी सुर्खरुई का प्लैटफ़ॉर्म न होता, तो गावतकिया का आराम छोड़ कर हम गाँव का नाम लेते ? अब समझे, आज नामवरी की सीढ़ी दरबार की कुर्सी नहीं, ग़रीब की झोपड़ी है ! आखिर काँग्रेसवाले भी आदमी हैं, फ़रिश्ते नहीं। उनके रगों में भी लहू है, उनके दिलों में भी आरज़ू है !

'तो क्या इस चकले में भी रँगे सियार ही हैं ?'

"दुत् ! यह कौन कहता है ? जहाँ सियार हैं, वहाँ शेर भी हैं; वर्ना ब्रिटिश शेर से पंजा ले पाते ? आज गाँधी टोपी तोप को चुनौती देती ? एक-से-एक जवाहर हैं। उनकी

चमक की आँच पर काँच के टुकड़े भी चमचमा उठें। मगर, भाई, हम-तुम तो आदमी हैं—कुछ गाँधी नहीं।"

'तो आखिर आपकी क्या राय ठहरी ?'

'बस, गाँधी टोपी की मुरीदी। यही मुरीदी तो पैग़म्बरी की सीढ़ी है। तुम्हारा चेहरा-मोहरा, तुम्हारा डील-डौल, तुम्हारे गले की बुलन्दी तुम्हें लीडरी के घाट जरूर उतार देगी। ज्वार बहा जाता है ! नाव प्रवाह पर डाल दो।'

'कहीं किनारे न लगी, मँझधार में जा फँसी—जेल भी जाना पड़ा···'

"तो फिर पौबारह ! समझो, नाव किनारे जा लगी। कौंसिल की मेंबरी, लीडरी की कलँगी धरी रखी है। तुम्हारी कुर्बानियों की डुगडुगी पिटी, तुम्हारी तमाम खामियाँ खूबियाँ बन गईं।'

मिश्रजी को बात धँस गई। मौका अच्छा था। सर पर गाँधी-टोपी रखी और उड़ चले। धन तो था नहीं पर धुन के धनी वे सदा के थे। जिस रंग में आते, उसी में तूफ़ान उठा देते।

१६३७ का जनवरी मास। कौंसिल के चुनाव की धूम। उनकी बेकारी के मसले का समाधान। बस, उन्होंने नाव बहाव पर छोड़ दी। पाठक जी की मदद थी ही। बात-की-बात में नज़रों के सामने आ गये। काँग्रेसी उम्मीदवारों की

ओर से उनका डंका पिटा। आपने वह लेक्चर झाड़ा कि सुनने वाले दंग रह गये। पल में सिक्का जम गया। आपकी स्पीच की बानगी अपने ढंग की निराली निकली—

'भाई, महात्मा गाँधी की तपस्या को भंग करने के लिए नन्दन से नव-विधान की जो परी उतरी है, उसे क्या हम मिनिस्ट्री का जामा-जोड़ा पहन कर वरण करने चले हैं? फूलों की सुहाग-सेज पर गले लगा कर उसका गला घोंटना कभी मुमकिन है? रति में रस लेने के बाद फिर यह कस बाकी रहेगा? कौन यहाँ छाती का पोढ़ है जो इस कंस की दूती पूतना की छाती का दूध पीते-पीते इसके कलेजे का लहू चूस ले? मगर नहीं आप इतमीनान रखें, गाँधी टोपी की सफ़ेदी में कभी स्याही नहीं लगेगी। यहाँ वह दिल नहीं है, जो इस मोहिनी के छल-बल पर पिघल कर मोम हो जाय। हम कुछ नपुंसक नहीं। हम इस मायाविनी का पानी उतार कर धर देंगे। यह मुँह की खाकर लौटी नहीं, तो हमारी मर्दानगी की नाक कट गई·····।'

काँग्रेसी उम्मीदवार जीते। मिश्रजी की धाक जमी। उनके मुँह की लाली लौट आई। वे घर लौट आये। गाँव में मुँह दिखाने के लिये उनको गाँधी टोपी की सुर्खरुई मिल गई। उनकी सिकुड़ी हुई मर्यादा की बेल फिर हरी-भरी होगी— यह उम्मीद बँध गई।

३

'पद्मा ! आज से मेरी आराधना की प्रतिमा मातृभूमि रही।'—मिश्रजी ने ज़रा अकड़ के साथ कहा।

पद्मा ने निगाह उठा कर उनके नये वेश को देखा—खादी का पंजाबी, खादी का जवाहर-जैकट, खादी की महीन चादर, खादी की गाँधी टोपी—और, ज़रा मुस्कुरा कर बोली—'यह निरी आराधना नहीं, साधना है। यहाँ देवता के चरण पर सुमन नहीं, मन चढ़ाने का दस्तूर है।'

'तुम तो इस कूचे में कभी आई नहीं—इस पूजा की पद्धति को खाक़ समझोगी?'—मिश्रजी ने उसी ताव से कहा।

'मैं इतना तो ज़रूर समझती हूँ—पद्धति बाँदी है, अनुभूति रानी; आचार तो सरदार नहीं, विचार का ताबेदार है।'

'अजी, यहाँ पद्धति है गाँधी टोपी; अनुभूति तो आते-आते आती है।'

'मैं तो समझती हूँ, सिपाही के लिए लिबास-मिलिटरी

ज़रूरी नहीं है—दिल की दिलेरी ज़रूरी है! गाँधी टोपी की तह में गाँधीत्व की बू लिपटी न रही, तो फिर वह खादी की कलँगी नहीं, खादी की कफ़नी है। आचार पर मन बाँधना विचार का पर बाँधना है। इसी से कहती हूँ, आप महज़ गाँधी टोपी को न अपना कर गाँधीत्व को अपनाते, तो देश को अपना पाते।'

'वाह! गाँधीत्व तो शून्य निराकार है। मैं तो प्रत्यक्ष—साकार—का उपासक हूँ।'

'बस, वही मसल—'शरीर से प्यार, आत्मा से तकरार'? प्रत्यक्ष में राग होना वास्तव में विराग होना है। साकार की उपासना में वासना की बू रहती है। इसी से वह निरी रस्म है—धर्म नहीं। मैं फिर भी कहती हूँ, आचार का आधार ठोस विचार न रहा, तो फिर निरा आचार विधवा के शृङ्गार-सा बेकार है।'

'पद्मा! बिना वासना के कोई उपासना कभी मुमकिन है? तुम्हारी तमाम भक्ति की भित्ति तो कोई दूसरी नहीं। आज कामना न रहती, तो किसके तन पर रामनामी होती?'

'तो क्या रामनामी की जगह यह गाँधी टोपी आई है? वासना ने फ़ैशन का रुख देखकर वसन पलट दिया! मगर कहीं रामनामी सर पर बाँधने से कोई भक्त होता है—या सर पर गाँधी टोपी रखने से कोई देशसेवक?'

'तुम समझती नहीं, ज़िन्दगी और आरज़ू, फूल और खुशबू एक दूसरे के धर्म हैं।'

'मुझे पुरुषों के हृदय का पता नहीं, पर स्त्री के जीवन का त्याग ही उसके सर का सुहाग है। उसके हृदय की वन्दना कभी कामना बन कर उठती। वह छाती फाड़ कर देती है। वही बलिदान उसके जीवन का वरदान है। देवता के चरण पर सर्वस्व रख कर भी वह न प्रसाद पाती है, न आशीर्वाद। उसके दिल खोल कर देने में कुछ पाने की न अभिलाषा है, न आशा।'

'यह तो जीवन नहीं, आजीवन तपस्या है।"

'जो हो, देश की सेवा इस तपस्या से कुछ कम नहीं।'

'तुम एक अलौकिक आदर्श ढूँढ़ती हो। मैं ज़माने की रविश देखता हूँ।'

मिश्रजी ने घर आते ही गाँधी टोपी की रौनक़ी बुलन्द की। ज़माने की हवा पीठ पर थी। काँग्रेस का सितारा ओज पर था।

देश पर मरने वाले देश की बागडोर थाम रहे थे। सरकार के शिकार सरकार हो चले थे। सन्यास की भस्म से भूरे ललाटों पर ताज के तुर्रे फहरा उठे। जेल की हवा खानेवालों को मसनद की हवा लगी। कहाँ जेल का कोल्हू—कहाँ मसनद का पहलू! बिस्मिल की कूचा क़ातिल का बज्म हो गया!

गाँधी टोपी की तख्तनशीनी मिश्रजी के अरमानों की दुनिया में मृतसंजीवनी बन कर आई।

गाँव का मैदान खाली था। मिश्रजी ने चट कमान उठा ली। उनकी हैंकड़ी कफ़न फाड़ कर फिर उठ खड़ी हुई और दो दिन में दुन्द बाँध कर छा गई।

नये-नये विचार समाज की नस-नस में खौलने लगे। नई आज़ादी की लहर छाती तोड़ कर फूट पड़ी। जो दलित थे, वे प्रतिष्ठित बन कर उठ बैठे। जो प्रतिष्ठित थे, वे कमर थाम कर बैठ गये। छोटे ऊपर आने लगे, बड़े नीचे जाने लगे। जो बड़प्पन के नशे में चूर थे, वे चूर-चूर हो गये। हक़ का प्रश्न सुलझते-सुलझते उलझ पड़ा।

परम्परा की तमाम साज़िशें—दबदबा की तमाम बन्दिशें-ढीली पड़ गई। जो ज़माने से पिस रहे थे, वे दाँत पीस कर सामने आये। चोखे दाँत वालों के दाँत खट्टे हो गये। खा-खाकर डकार जाने वालों की डकार गले में हिचकियाँ लेने लगी। लहू के लुक़मों पर पले हुए पुराने बिछखोपड़े अकचका कर बिल ढूँढ़ने लगे। ज़मीन्दारी हुकूमत की आँतें गले में आ गईं। बस, बेगार बन्द, नज़र-नेयाज बन्द, अबवाब बन्द, लगान बन्द। नई माँगें चारों ओर से पेश होने लगीं। कितने गड़े मुर्दे क़ब्र से खोद-खोद कर निकाले जाने लगे।

मिश्रजी ने एक ओर तोड़ा, तो दूसरी ओर गढ़ा—कांग्रेस-

कमिटी की नींव मज़बूत की, किसान-सभा खड़ी की, सेवादल का दल बाँधा, प्रभात-फेरियों की फेरियाँ चलाईं, हरिजन-संघ की बुनियाद डाली। उनकी ज़मींदारी की मस्ती लीडरी की चुस्ती में बदल गई।

शक्ति की दामनगीर लक्ष्मी भी आई। ज़मींदारी कचहरी वीरान हुई, कांग्रेस-कमिटी आबाद हुई। मुठिया भी बँधी, डालियाँ भी चलीं। चन्दों का चँदोवा तन गया। हल पीछे 'मन', घर पीछे 'कर'। अमलेसाज़ी के पर्दाफ़ाश पर बीड़े उठे। पुलिस की नादिरशाही पर कमिटी बैठी। मुकद्दमे बरसने लगे। तोहफ़े बरसने लगे। पञ्चों की पाँचों उँगलियाँ घी में सनीं।

उन्होंने स्वयं-सेवकों को नई वर्दी दी—खादी का जँघिया, खादी की कमीज़, खादी की गाँधी टोपी। फिर बड़े तपाक से समझाया—"भाई, अहिंसा हमारा जीवन है, कायरता हमारा मरण। हमारे हाथ में तलवार न हो; पर इसका मतलब यह नहीं कि हमारे हाथ पर जैसे चूड़ियों का संचार हो। खादी का पंजाबी कुछ तनज़ेब की चोली नहीं है, न सर की गाँधी टोपी माथे की मोतीजड़ी बन्दनी। खादी लाख सादी हो, पर इसकी रूह है मिलिटरी। खद्दर की लिबास बे-हथियार की लड़ाई की निराली वर्दी है। अगर इस वेश को हम अपना सके, तो बग़ैर रक्तपात के इस देश को हम लौटा सकेंगे। तुम्हें देश पर मर-मिटने के लिए कमर बाँधना है। यह गाँधी टोपी शहीदों

के सर पर सफेद कफ़न का सेहरा है—देश पर कुर्बानी का तुर्रा है।"

उन्होंने जनता के होश को तो जगाया, पर जोश इतना भर दिया कि वह फिर बेहोश-सी हो पड़ी। एकाध पर खादी का रंग तो चढ़ा; पर उमंग का वह जोर था कि बदरंग होकर रह गया। जो कभी सर न उठा पाते थे, वे सरकश होकर सर पर आसमान उठाने को तैयार हो गये। तिरंगे झंडे के साथ-साथ रंगरूटों के हाथ में लोहबन्द डंडा देकर उन्होंने गाय और बाघ को एक ही बम में जोत कर हाँकना चाहा। गाँधी टोपी और लाठी के मेलजोल का मुरब्बा उनके जोश की आँच पर बनने को तो बना, पर उतरा नहीं। दूध के मटके में ब्रांडी का जोरन देकर जो क़माम तैयार हुआ, उसमें दही की मलाहियत आ न सकी। तेज़ के बदले तेजी भरी, गर्व के बदले गर्मी। बस, गाँधी टोपी की नर्मी लाठी की गर्मी से उलझ पड़ी। खादी की आड़ में लफन्दरी भी नामवरी में खप गई। अत्याचार की गर्दन पर अत्याचार चढ़ बैठा।

उनका दबदबा दून पर था। जो कली ज़मींदारी के कूचे में न खिली, वह लीडरी के चमन में खुल पड़ी। इस मज़े को चख कर लीडरी ने हिटलरी पर क़दम रखा। किसी ज़माने में वे गाँव के मालिक थे, आज देश के नायक बन गये।

बेचारे सेठजी की ज़मींदारी उनके गले में फाँस हो गई।

पुरानी रोशनी के आदमी थे। उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम थी। एक दिन वे खुद कांग्रेस-आश्रम में हाज़िर हुए। मिश्रजी उस वक्त कचहरियों की घूसखोरी पर कांग्रेस-रँगरूटों की कमिटी बनाने में व्यस्त थे। घंटों इन्तजार के बाद उनसे भेंट हो पाई।

मुलाकात होने पर मिश्रजी बड़ी आज़िज़ी से मिले और देर होने की माफ़ी माँगी। फिर मुस्कुरा कर बोले—'कहिये, क्या इरशाद है ?'

'मैं पूछने आया हूँ, हमारे लिए—ज़मींदार के लिए—कांग्रेस का क्या हुक्म है ?'

'यही कि आप आसमान से उतर कर ज़मीन पर आयें !'

'शुक्र है। हम तो समझते थे, रसातल तक उतार देने का हुक्म है !'

'सेठजी ! आपकी करनी ही रसातल की सीढ़ी होगी—कांग्रेस की नीति नहीं।'

'आखिर हमने किया है क्या ?'

'बेबसों का लहू चूसा है, और क्या ?'

'वह कैसे ?'

'बस, गिनते जाइये—सूदखोरी, हरामखोरी, मुफ्तखोरी, जुआचोरी, सीनाज़ोरी। ग़रीब बेचारे खटें, मर मिटें—और फ़सल बटोर कर मजे लूटें आप !'

'तो क्या धरती उनकी है ?'

"उनकी नहीं तो आपकी ? लू में जलें वे, सर्दी में ठिठुरें वे, बरसात में भींगें वे—फिर भी छाती फाड़ कर खेती में भिड़े रहें, और जब फ़सल कटी, दौरी हुई, ओसौनी हुई, तो आप लट्ठ फटकारते मौजूद—आधा रख दो ! उनके लहू की सींची खेती आपके घर में मोती बन कर गई। उनके पसीने की बूँद में सने अनाज के दाने आपकी महफ़िल में पैमाने बन कर चमके।"

"फिर हमारा हक़ ? सरकार का हक़ ?"

"सरकार तो ढेरी का एक हिस्सा लेती है—चूँकि वह उनके जान-माल की निगरानी करती है, अस्पताल देती है, पुलिस देती है और उनके बच्चों को तालीम भी। कुछ मुफ़्त नहीं लेती। आप उनके लिए कभी एक खर भी सरकाते हैं, जिसकी एवज़ में उनकी उपज का एक बड़ा हिस्सा हड़प जाते हैं ?"

"यह बात है ! तो आप अपनी ज़मींदारी रखिये। मैं बाज़ आया। मेरे रुपये, सूर ही सही, वापस कीजिये।"

"आपके रुपये या इन बेबसों के पसीने के पैसे ?"

"हाँ साहब, आज न यह दद पैदा हुआ है ! अपनी जायदाद से नजात पा न चुके ! बस, साम्यवाद पर दाद दीजिये, जायदाद पर जिहाद छेड़िये। आपके लिए वह चूसी हुई गुठली

हो गई। आपकी सूखती खेती में आज गाँधी टोपी सरसब्ज़ी न लाती तो····।"

"बस, ख़बरदार! गाँधी टोपी की शान में आपकी ज़बान हिली और फिर···बस····आपके महल की ईंट से ईंट बजी।"

"जी हाँ, क्यों न बजेगी! हम ठहरे ज़मींदार साहूकार। हमारा जुल्म तो सरे बाज़ार है। मगर कहीं गाँधी टोपी की अमलदारी में सीनाज़ोरी की धाँधली चली, तो फिर उसे दुनिया मन्दिर की कुर्बानी कहेगी—कसाईख़ाने की खूँरेज़ी नहीं। देवता के नाम पर जुल्म, जुल्म नहीं, धर्म है!"

"सेठजी! विष का औषध विष ही है—पीयूष नहीं। यहाँ कोई नीलकण्ठ नहीं जो विष गले में धारण कर आशुतोष बना रहे।····ख़ैर, देवता के ज़िक्र से मुझे देवालय की याद आ गई। अभी तक मुरली-मनोहर के मन्दिर में हरिजनों का प्रवेश····"

"वह नहीं होगा साहब, यह भगवान का घर है।"—सेठजी ने ज़रा उकता कर कहा।

"तो भगवान का घर किसी के बाप का घर नहीं है!"—मिश्रजी ताव में आकर बोले—"सेठजी! मन्दिर किसी की मिलकियत नहीं, वह तो पब्लिक की चीज़ है। उसकी तमाम आमदनी···"

"तो आख़िर यह उसूल पहले कहाँ था?"—सेठजी ने ज़रा अचकचा कर पूछा।

"पहले जनता में जागृति ही कहाँ थी ? तब और अब की बात ताक़ पर रखिये। आज पुराने पाखंडों का भंडाफोड़ होकर ही रहेगा।"

४

सूरज का लाल चक्का दिन-भर की थकान के बाद रजनी के आँचल के तले सोने चला। झिर-झिर हवा हौले-हौले थपकियाँ देने लगी।

प्रदोष का व्रत। पद्मा आँगन में बैठी श्रीखंड बनाने की धुन में दही में केसर मिला रही है।

सहसा मिश्रजी मौजूद।

'पद्मा! जानती हो, आज हमारे यहाँ रविदासजी ठहरे हैं। वे हरिजन-नेता हैं।'

'तो फिर?'

'आज मजमे में मैंने उनके हाथ से पानी पी लिया। लोग दंग हैं।"

'सच? ऐसी प्यास थी? या वाहवाही की प्यास…'

'मैं न पीता तो बे-पानी न हो जाता! गाँधी टोपी की तो कोई ज़ात नहीं। उसकी ज़ात तो जातीयता है।'

'सच?'

"और क्या? गाँधी टोपी हमारी जाग्रत चेतना की प्रतिनिधि है।'

ज़बान में ज़ीट की धुन साफ़ थी। पद्मा एक क्षण चुप रही। फिर सँभल कर बोली—"अच्छा, मैं भोजन परोस कर बाहर भिजवा दूँगी।"

"क्यों, भीतर चौके में जगह देने से तुम्हें उज्र है ?"

"आप पहले दिल में तो जगह दें ! इस नुमायशी बर्ताव से फ़ायदा ?"—पद्मा ज़रा झिझक से बोली।

"लगी पैंतरे बदलने ? फिर वही दिल की तलाशी चली ?"

"हमारा सवाल अलग है। हम भीतर से जो चाहते हैं, बाहर से वह कर नहीं पाते।"

"क्यों ?"

"चूँकि हमारे लिए परम्परा की पाबन्दी ज़रूरी है।"

"तुम्हारे लिये ?"

"हाँ, नियमों के दायरे के बाहर स्त्री का कहीं गुज़र नहीं। आपकी पाबन्दी आपके गले की जंजीर नहीं होती।"

"भला, प्रेम के लिए भी कोई नियम है ?"

"आपके लिए नहीं, हमारे लिए तो है। आप मनमानी करके निभ सकते हैं; हम नहीं निभ सकतीं।"

"मेरे सामने तो प्रेम भी है, नेम भी।"

"बस, ज़बानी। जो है, वह काम है। कभी प्रेम का रूप धर कर सामने आता है, कभी नेम का। प्रवृत्ति जब निवृत्ति का रूप लेती है तो हमारी बुद्धि भी टोह नहीं पाती।"

"पद्मा ! तुम भूलती हो। रमेश अब वह रमेश नहीं।"

"आप वही हैं। बदली है आपके माथे की टोपी। बग़ैर आग में तपे लोहा नहीं मुड़ता। अभी त्याग की आग में आप तपे कहाँ ?"

"सच मानो, मेरे जीवन का व्रत अब त्याग ही है—देश-सेवा।"

"यह दलील है, दिल नहीं।"

"तो फिर मैं कमर कस कर डटा क्यों हूँ ?"

"आप ? आप नहीं। डटी है आपके सर की लीडरी।"

"बस, लगी बाल की खाल खींचने ? तुम्हारी पुरानी लत। तुम्हारी लनतरानियों की आज पोल खुल गई। यह नहीं बनता कि हरिजन को अपना बना लें! पद्मा ! दिल का दर्द ही न दिल की दौलत है ! आदमी के साथ आदमी का बर्त्ताव न रखा, तो फिर हम आदमी रहे ?"

पति की ज़बान पर दर्ददिल की तक़रीर सुन कर पद्मा आँखें फाड़ उनके चेहरे पर दर्ददिल की तासीर ढूँढ़ने लगी। देखा—उनकी कटाक्ष की कोर में विजयोल्लास की-सी एक अजीब दीप्ति है, होंठों पर मूँछों की नुकीली तनी ऐंठी खड़ी है, बाईं कनपटी पर झुकी हुई गाँधी टोपी तिरछी अदा से बैठी है।

मिश्रजी बरस कर चल पड़े। आज उनकी अकड़ दून पर थी। उन्होंने समझा कि आज पद्मा अखाड़े की मिट्टी चाट गई।

"पद्मा ने कहा—"कहाँ चले ? नाश्ता तो करते जाइए !"

बाहर से हाँक पड़ी—"सरकार ! बूटी तैयार है।"

"लाओ, जल्दी करो। मुझे आज शराबबन्दी का मोर्चा बाँधना है। सेठजी की अब नानी मरी। भट्टी की आमदनी भी·····"

"क्यों बेचारे के दिल पर दाल दलते हो ?"—पद्मा ने बड़े मुलायम स्वर में कहा।

"बग़ैर दले तो मेरी दाल गलती नहीं पद्मा ! तुम भूल गई—उसने जो दली है !"

"तो आप बूटी छान कर शराब की दूकान पर कमान उठाने चले ?—विजया के ज़ोर पर मदिरा पर विजय पाने ?"—पद्मा ने मीठी चुटकी ली।

"क्यों नहीं ? कहाँ शिवप्रिया विजया, कहाँ शैतान को खाला मदिरा ! एक देवता का प्रसाद, दूसरी शराबखाना खराब !"

मिश्रजी उसी ताव से बाहर निकल गये। उनकी विधवा बहन आँगन में बैठी थाल की दाल से कंकड़ी चुन रही थी। वहीं से ज़रा खिझी हुई बोली—"अजब तुम्हारी लत है भाभी ! दो मीठी बात नहीं, बात-बात में फुचड़।"

"तुम्हीं कहो बीबी, लाठी छुटी तो सुमिरनी चली। सुमिरनी गई तो गाँधी टोपी आई। प्रवृत्ति तो बदली नहीं, केवल पद्धति बदलती गई।"

"इसलिए तुम कान थामती चलोगी ?"

"तो आँख मूँदे देखा करूँ ? तुमने सुना है न—

'एक तो नैना मद भरे, दूजे अंजन सार।

ए बौरी कोइ देत है, मतवारिन हथियार॥'

"एक तो मूँछें कड़ी, दूजे बूटी की गर्मी—उ ढ़ी गाँधी टोपी, तुम्हीं कहो, यह खादी की लहर दम लेने देगी ? सच मानो, यह गाँधी टोपी क्या हुई, बारूद से भरी नाल में पलीते की टोपी हो गई। मन की लबलबी दबी नहीं गोली उड़ी नहीं।"

"हाथ जोड़ती हूँ, भाभी ! यह टीका-टिप्पणी अच्छी नहीं। स्त्री के हाथ की छड़ी पति की पीठ पर नहीं, उसके कलेजे पर बजती है।"

"अच्छा, न बोलूँगी !"—पद्मा मुस्कुरा कर चुप हो गई।

❀ ❀ ❀ ❀

रात बारह बजे मिश्रजी झूमते घर लौटे। आँखें चढ़ीं—लाल-लाल। मिजाज भी दून पर।

पद्मा व्रत का पारण कर अभी उठी थी। साड़ी भी बदल न पाई थी कि जूते की मचमचाहट आंगन में आ गई। पति की आँखें देखीं, तो सहम गई। बाप रे ! आँखें क्या हैं, लहू के प्याले हैं !

मिश्रजी ने आते ही अकड़ कर कहा—"आज हजरत की

अच्छी मरम्मत रही। बस, भट्ठी की रक़म तो दफ़न हुई। कल मन्दिर पर धावा…"

"जाने दो। कुछ खाओगे नहीं? आज प्रदोष है न!"—पद्मा ने बात काट कर कहा।

"देर तो हो गई। हाँ, मीठी रबड़ी हो तो लाओ।"

"रबड़ी? नहीं-नहीं, दही खा लो! श्रीखंड भी है। बूटी की…"—पद्मा रुक गई।

"दुत्!…अच्छा! आज तो तुम बिलकुल लहालोट हो रही हो। यह लाल चुनरी…"

पद्मा लाल हो गई। एक क्षण चुप-सी खड़ी रही। फिर हँसकर बोली—

"आरसी लै देखै दुति कौन की बढ़ी है लाल,
मेरी लाल चुनरी, तुम्हारी लाल अँखियाँ?"

५

गाँव के दामन पर जम कर सभा बैठी। सामने मुरली-मनोहर का विशाल मन्दिर। हरिजन-लीडर रविदासजी तो थे ही, हरिजन-रँगरूटों का क़ाफला भी था। सैकड़ों तमाश-बीन भी टपक पड़े थे। कितने पुरानी रूढ़ियों के हिमायती पुजारी पंडित भी मौजूद थे।

सेठजी का पता न था। उनके कारपरदाज़ हाथ बाँधे अलग खड़े थे।

रविदासजी ने मीठे-मीठे, अज़िजी से अपील शुरू की—"भाई, गाँधी टोपी की आलमगीरी की भित्ति उसकी सम-दृष्टि है। अगर यह मूल नीति की भित्ति खड़ी रही तो फिर स्वराज्य की क़िलेबन्दी—देश की सलामती—धरी रखी है, नहीं तो नहीं। याद रखिये, हम आप के हैं—आप हमारे हैं। हम आप ही के अंग—लहू के लहू हैं। हम जानते हैं, हम दलित अंग हैं; फिर भी आप ही के अंग-प्रत्यंग हैं। आप हमें काट कर अलग करते हैं, तो अपना ही अंग-भंग—अपना ही दायरा तंग करते हैं। हम-आप एक नहीं होते, तो देश भी

एक नहीं हो पाता। और, देश एक नहीं होता, तो स्वराज्य का अभिषेक भी नहीं होता।"

मिश्रजी ने वहाँ और ही समाँ बाँधा। आपने चौकी पर झाँकी बाँध शालिग्राम की मूर्त्ति ला रखी। बन्दनवारों पर गोटे की किरण के लट्टू लटका दिये। अलग आसन पर बैठ कर सत्यनारायण की कथा शुरू की। कथा के साथ-साथ व्याख्या भी और व्याख्या के साथ-साथ प्रोपगैंडा भी—"भाई, भगवान का दर्शन तो प्रत्येक हिन्दू का जीवन है—वह ब्राह्मण हो या हरिजन। उसके हुज़ूर में कौन बड़ा है, कौन छोटा? फिर एक के लिए तमाम सुविधा और दूसरे के सामने बन्द दरवाज़ा—यह तो कोई इंसाफ नहीं! आखिर मन्दिर—मन्दिर की लगी जायदाद—किसी की खास मिरियास नहीं है; वह तो प्रत्येक हिन्दू की धरोहर है। आज हरिजनों को मन्दिर से अलग कर हमने मन्दिर की आलमगीरी की क़ब्र खोद डाली। हमने उनका गला टीप कर हिन्दुत्व का गला टीपा है। उनके दिल को मसल कर अपने जिगर का लहू चूसा है। उनके दिल के फफोले फूटते नहीं, तो हमारे पथ के रोड़े दूर नहीं होते। आखिर वे भी इसी देश की मिट्टी में उगे हैं, यहीं के हवा-पानी से पनपे हैं। उनको भी फूलने-फलने का बराबर हक़ है। अगर हम उनको वह हक़ नहीं देते, तो फिर दुनिया के हाथ से अपना हक़ पाने का भी हमें क्या हक़ है?

कथा खत्म हुई। हरिजनों ने प्रसाद बाँटा—पञ्चामृत और पंजीरी। किसी ने भर-मुँह मीठा पाया, किसी ने मुँह बनाया। कितनों ने चरणामृत का घूँट पीया, कितनों ने लहू का घूँट। जवानों ने बढ़ कर पंजीरी ली, बूढ़ों ने हँस कर चुटकी ली। इधर-उधर चुपचाप चुनाचुनी तो चली; मगर किसी ने चूँ तक न कसी। जो पानी में आग लगाने आये थे, वे चुल्लू-भर पानी की तलाश में रह गये। आँख में पानी होता, तो पानी-पानी हो जाते। जो तमक कर लाठी उठाते, वे उँगली उठा कर रह गये। किसी की दाल न गली। विरोधियों का दल हाथ मलकर चल दिया।

मिश्रजी ने फतवा तो दिया ही, ललकार कर पुजारियों के दाँत खट्टे कर दिये। उनके रँगरूटों ने 'इनक्लाब ज़िन्दाबाद' के नारे बुलन्द किये। उनकी मिलिटरी वर्दी, उनके हाथ की तगड़ी लाठी पुजारियों की गीदड़भबकी को चीर कर उनकी हड्डी पर बोल उठी। मन्दिर की चौखट पर की मोर्चेबन्दी तिलमिला कर ढेर हो गई। दरवाजे खुल गये।

हरिजनों ने जी-भर दर्शन पाये। मिश्रजी की जय-जय ध्वनि आकाश चूमने लगी। उनकी हैंकड़ी की मस्ती दिल से दिमाग़ तक फनफना उठी।

मन्दिर पर दखल जमा कर उन्होंने मन्दिर के इन्तजाम पर भी दखल जमाना चाहा। रविदास जी इस हद तक जाने

को तैयार न थे। उनका ग़रज दर्शन था संगठन नहीं। उन्हें हरिजनों के अधिकार से मतलब था, मन्दिर पर अधिकार से नहीं। मगर मिश्रजी को तो हरिजन के प्रवेश के साथ-साथ अपना आवेश भी ध्येय था। पब्लिक की हक़रसी की आड़ में सेठ जी की हुकूमत की मुर्गी जो हलाल करनी थी।

वे कब थमते ? लोकमत की धारा साथ है, तो कानून की धारा कुछ भी हो—बला से ! आखिर गाँधी टोपी की अमलदारी है, कोई कर क्या लेगा ? आपने मन्दिर की देखरेख के लिए एक मनमानी कमिटी बना कर ही छोड़ी।

करते-कराते बेला गिर आई। विजय के उपलक्ष्य में विजया चली। उधर ब्राह्मण से हरिजन मिला, इधर बादाम में केसर घुला—काहू में बेवड़ा घुटा।

❀ ❀ ❀

क़िला फ़तह कर जब वे शाम को घर लौटे, दरवाजे पर अपने बच्चे को फफक-फफक कर रोते पाया। उसे रोते-रोते हिचकियाँ सी बँध गई थीं।

"क्या है रे कल्लू, बुन्नू रोता है क्यों ?"—मिश्रजी ने दूर ही से आवाज़ दी।

बच्चे ने बाप को देखा, तो चिग्घाड़ मार कर रो पड़ा। कल्लू उसे गोद में उठा कर थपकियाँ देने लगा—"चुप हो लाला, बस-बस भैया, अभी-अभी नये जोड़े मँगाता हूँ। कहाँ

चोट आई है—पैर में ? कुछ परवा नहीं। ला, फूँक दूँ।"

कल्लू ने मिश्रजी की ओर रुख किया। "क्या बताऊँ सरकार ! मसल—'मोची की मूँछ व बिल्ली की पूँछ जब खड़ी होगी तब उड़ान लेगी !' बुलाकी के बेटे की यह मजाल ! बच्चे के पैर ऐंठ कर जूते उतरवा लिये। फूल-सा कोमल लल्ला। घुट्टी तड़तड़ा गई।"

"सो क्यों ?"

"नवाबी। शोखी। कहता है, तीन दिन के वादे थे; पैसे न मिले "

"पैसा कैसा ?"

"वही तो। पैसा कैसा ? उसके सात पुश्त ने भी पैसा लिया था ? साल में पाँच जोड़े न जाने कब से बँधे हैं। होली में दो जोड़े, तौज़ी में दो जोड़े, दिवाली में दो जोड़े। और, यहाँ एक ही पर यह अकड़ ?"

"तू कहाँ था ?"

"सरकार, मेरे सामने जूते उतरवाता तो मैं उसकी पीठ की खाल उधेड़वा कर नये जोड़े न सिलवा देता ! मैंने तो ज्यों आँगन से बच्चे की चीख सुनी, दौड़ कर····।"

"उफ़ ! मेरे साथ यह हरक़त ? आज मैं न होता, तो ये गधे कभी आदमी हो पाते ?"—मिश्रजी बीच ही में उबल पड़े।

"गुस्ताख़ी माफ ! सरकार ! कहीं गधा भी धोने से बछेड़ा

हो सका है ? और गले लगाइये ! इसी चूमाचाटी का न यह अंजाम है ! मेढ़कों को जुक़ाम हो गया ! आप न सीधी उँगली से घी निकालते·····।"

"बस, टर्र-टर्र रख। दौड़, उसे पकड़ तो ला—बच्चू की अँगड़ाई झाड़ दूँ।"

कल्लू ने बच्चे को बाप की गोद में दे दिया; सामने दौड़ पड़ा।

पाँच मिनट के भीतर वापस आ गया।

"सरकार, वह तना बैठा है। उलटे रोब गाँठता है।"

"अच्छा, ठहर। मैं देखता हूँ। उसे पर तो नहीं जम गये ! कहाँ है वह ?·····"

"यही पिछूत में सरकार ! बच्चू को शहर की हवा लगी है।"

मिश्रजी ने सोटा फटकारा, मूछों पर ताव देकर मकान के पिछूत की ओर मुड़े।

भकठा-सा खपरैल का कच्चा घर। सामने चटाई पर बुलाकी का बेटा 'भोला' एक फटे जूते के तलवे पर टाँके दे रहा है। सोलह-सत्रह का सिन, छरहरा बदन, मटियाला रंग। वह झूम-झूम कर मस्त गा रहा है—"बौरी अमोलवा की डालिया रे ! गोरी तोरे अँगनवा।"

मिश्रजी उसे पहचानते न थे। वह बचपन ही से बाहर

कमाता रहा। पर उसने बाप का चेहरा पाया था। पहचानने में दिक्कत न हुई।

उन्होंने आते ही कड़क कर पूछा—"क्यों बे नवाब के नाती! तेरी यह मजाल! जूते क्यों उठा लाया?"

"क्यों न लाता? कुछ नज़र थोड़े ही किया था!"—उसने अकड़कर नहला पर दहला दिया!

"तो फिर दिया ही क्यों?"

"मैंने कब दिया? वही कल्लू जाने कब उठा ले गया। दाम माँगने पर आज-कल करता चला आया।"

"तेरे बाप ने भी कभी दाम माँगा था?"

"किसी के बाप का मैंने कर्ज़ खाया है?"

"हरामज़ादे! तेरी गर्मी न····"

वे डंडा फटकार कर आगे झुके।

"आप को होगी—नई वर्दी की गर्मी···"

बात खत्म भी न होने पाई थी कि उनके हाथ का लोहबन्द बिजली की तरह तड़प कर तड़ाक से उसकी पीठ पर जा पड़ा। वार ओछा था। टट्टी की ओट आधी चोट हज़म कर गई।

मोची चौंका। गुर्राया। चट हाथ का जूता तान लिया। पूरा तान भी न पाया होगा कि डंडे का दूसरा वार तड़प कर कनपटी पर जा पड़ा। सर खुल गया। लहू की धार फूट पड़ी।

छोकरा ऐंठ गया। चीखा—'बाप रे!'—और वहीं ढेर हो गया।

तहलका मच गया। माँ भीतर से दौड़ आई। लगी छाती पीटने—'बाबू रे! कौन पगजरना.....'

मिश्रजी पर निगाह पड़ी तो पुक्का फाड़कर रो पड़ी—"दौड़ न मँगरी! रवि काका को पुकार ला।"

एक ने पूछा—"कौन रवि काका?"

दूसरे ने कहा—"अरे, रविदास जी!"

भीड़ जम गई। चमाइनों ने चिल्ला कर कहा—"माई रे! जे लाल पगड़ी उहे गाँधी टोपी!"

मिश्रजी को तो काठ मार गया था। उधर लहू के छींटे थे, इधर काटो तो लहू नहीं। रविदास जी की भनक पड़ी तो पाँव-तले से ज़मीन सरक गई—'यह हाथ की सफ़ाई दिखाने के बाद सफ़ाई देनी पड़ी तो फिर.....'

तिलमिलाते हुए घर की ओर मुड़े।

दो क़दम भी न बढ़े होंगे कि सामने रविदास जी दो-चार हरिजन-स्वयंसेवकों के साथ मौजूद!

एक ने आगे आकर कहा—"अजब तमाशा है। उधर अछूत को गले लगाया इधर अछूत का गला घोंटा।"

"अरे भाई!"—दूसरे ने कहा—"वह हाथी का दाँत दिखाने को था, यह खाने को है।"

मिश्रजी बुत। रविदास जी ने भी एक चुटकुला छोड़ा—"आप नाहक इस काँग्रेसी कूचे में आये। वही मसल—'मन ना रँगाया, रँगाया जोगी कपड़ा!' आखिर यह आटे की नाक कब तक टिकी रहती? गाँधी टोपी का भी पानी उतार डाला!"

"तो मैं जूतीफरोशों की जूतियाँ सीधी करता फिरूँ? मेरे मुँह का पानी न रहा तो फिर गाँधी टोपी का पानी मुझे आक़वत में काम देगा?"

मिश्रजी रूखी हँसी हँस कर उसी अकड़ के साथ आगे बढ़ चले।

रविदास जी हँस कर बोले—"आप को गाँधी टोपी की विभूति तो मिली, अनुभूति न मिली। गाँधी टोपी भी खोगीर की भरती बनी, तो तादाद की तरक्की तो रही, मगर बुनियाद की भित्ति ढीली पड़ गई। आज गाँधी टोपी की गर्मबाज़ारी ही उसकी मर्यादा की धाँधली हो रही है। यह वैष्णवी फटाका-सी पद्धति की तामीली-भर रह गई—सिद्धान्त की पाबन्दी से ग़रज़ नहीं। कहाँ यह निष्काम सेवा की कसौटी थी, अफ़सरी मनोवृत्ति को चुनौती थी—कहाँ खुद कितनों की हैंकड़ी और खुदग़रज़ी को टट्टी बन गई है। और, अफ़सोस, इसी पर देश का तमाम दारमदार है।"

मिश्रजी उसी अकड़ के साथ आगे तो बढ़ गये, पर जाने

क्यों, दिल बैठ गया। क्या उनकी उम्मीदों की कमन्द लीडरी के बाम को छूकर टूट गई? देश की मुराद तो दूर रहे, जिन्दगी की मुराद भी पूरी न होने पाई!

वे आँखें नीची किये पद्मा की तलाश में आँगन में आये। पर यहाँ पद्मा का पता नहीं। चौके में अकेली उनकी बहन थी। पिछूत का किवाड़ खुला था। वे चट उसी राह बाहर निकल गये।

फिर वही चमारों की गली। भीड़ ज्यों-की-त्यों जमी थी। देखा, पद्मा उस चमार के छोकरे को गोद में लिये उसके सर के जख्म को पानी से तर कर रही है। आँचल को चीर कर पट्टी बाँध दी है। उसके तमाम कपड़े लहू के छोटों से रंगीन हो चले हैं।

'पद्मा! तुम यहाँ कैसे?' उन्होंने छूटते ही पूछा।

वह बड़े मीठे स्वर में हँस कर बोली—"वाह! आप भूल गये अपनी ही बात? दिल का दर्द ही न दिल की दौलत है! आदमी के साथ आदमी का बर्त्ताव न रखा, तो फिर हम आदमी रहे?"

मियाँ की जूती मियाँ के सर।

मिश्रजी पानी-पानी हो गये। उनकी तमाम अकड़ हिरन हो गई। वे आगे बढ़ कर बड़ी आरजू से बोले—"भोला, मुझसे बड़ी भूल हुई—माफ़ करो!"

उन्होंने उस घायल चमार के चरणों पर अपनी टोपी उतार कर रख दी।

टोली में सनसनी-सी फैल गई। चमारों ने दाँतों-तले उँगली काटी। मिश्रजी की अनहोनी आज़िजी तमाम मजमे पर छा गई।

एक नया रुतबा, एक नया रोब का वायुमंडल-सा उठ आया।

रविदास जी आगे बढ़ कर बोले—"भूल मान ली—आपने गाँधी टोपी की मर्यादा रख ली। आज से यह टोपी नहीं, कलँगी होगी।"

"भाई, जाने कहाँ मेरी समझ थी!"

"कहीं भी हो—लौट तो आई! आप समझ गये—सर झुकने से नीचा नहीं होता, ऊँचा ही उठता है। गाँधी टोपी की बुलन्दी उसकी नवाबी नहीं, उसकी खाकसारी है। भाई, यह महज़ खादी की टोपी नहीं, गाँधीत्व की थाती है। इसे सर नवा कर सर पर रख लो।"

मिश्रजी ने टोपी उठा कर सर पर रखी। नारे गूँज उठे—'बोलो, महात्मा गाँधी की जय!"

दरिद्रनारायण

राजा की पलकों में नींद नहीं थी। मखमली सेज पर काँटे बिछ रहे थे। हज़ारों तरद्दुद सिर थे। सिर चीरते-चीरते वे और भी सरकश हो गये—'उफ़्! सर तो फटा जा रहा है—ताज किस सर पर रखूँ?'

वे उठ बैठे—"आख़िर इस सरदर्द की कोई दवा भी है? कहीं पौ फटने के पहले सर न फट पड़े! मेरे राज के किस कोने से यह कराह की हवा उठी है, जो आह बनकर मेरी रूह में भर गई! आज ताज के तमाम हीरे बेकार हो गये—न मन पर चमक पाते हैं, न बदन पर। उनकी किरण का जाल जंजाल हो गया। आह! इस भरे घर में शून्यता की बू कहाँ से भर आई?

वे चुपचाप बाहर निकल आये।

❀ ❀ ❀ ❀

राजा की सवारी जब फ़कीर की कुटिया पर पहुँची, पौ फट चुकी थी। ईर्द-गिर्द फूलों की महक थी, डालों पर चिड़ियों की चहक।

उन्होंने देखा, आश्रम के चारों ओर की प्रकृति पर एक विचित्र आभा टपक रही है। महल के गुंबदों पर उषा के फव्वारे कुछ और हैं, कुटिया के छज्जे पर किरणों के करिश्मे कुछ और। चमन में फूल खिलते हैं, वन में फूल हँसते हैं।

मन्दिरों की घंटाध्वनि, राजद्वार की नौबत को शहनाई के सुर से मिलकर, मंगल में मधु बिखेरने लगी।

❀ ❀ ❀ ❀

महर्षि प्रसन्नवदन चुप बैठे हैं। चेहरे पर तेज की ताज़गी है।

राजा ने सामने जाकर हाथ जोड़े और गिड़गिड़ा कर कहा—'महाराज! यह ताज तो मेरे सर पर भार हो चला है।'

'सच?'—महर्षि ने हँस कर कहा—'तो इस ताज के तले मुहताज की तादाद तरक्की पर होगी। जो वज़नी हीरे भार हो रहे हैं, उन्हें ताज से निकाल कर वितरण कर दो।'

'हीरे! महाराज! ये अनमोल....।'

'हाँ! हीरे। कितने मनों लहू के पसीने तुम्हारे ताज पर नगीने होकर फले हैं! इन मोती के लच्छों में किन बेबसों के आँसू के मोती पिरोये हैं—तुम्हें पता है? आखिर इस क़हर का असर तुम्हारे सर पर तो होगा ही!....'

"मगर, महाराज! इस ताज की क्या गति होगी?"

'यही है इसकी सद्गति। जब भार है तो इसे उतार ही डालो। इसका ज़माना लद गया।'

'तो फिर ?'

'जिसने तुम्हारे सर पर रखा है, उसे वापस करो।'

'उसे पाऊँ कहाँ ?'

'उसे क्या ढूँढ़ना है ? वह कहाँ नहीं है ? हाँ, उसे ढूँढ़ने के पहले अपने मन को ढूँढ़ लो। तुम्हारी आत्मा की वाणी तुम्हारे लहू के पर्दों को चीरती हुई दिल के कानों तक पहुँची है या नहीं ?'

❀ ❀ ❀ ❀

राजा लौट आये। उनकी चिन्ता गई नहीं। 'उसे कहाँ ढूँढ़ना होगा ? महर्षि का इशारा किस ओर है ?'—वे मौन-मेख में पड़े रहे।

महर्षि की बात उनके दिल में घर न कर सकी। उन्होंने राजपुरोहित को बुला भेजा। सारी बातें कह डालीं।

'मिश्रजी, महर्षि का आदेश क्या है ? मैं इस मुकुट को किन चरणों में अर्पित करूँ ?'

'महाराज, भगवान के चरणों में। और कहाँ ?'

'तो फिर उन्हें ढूँढ़ना तो टेढ़ी खीर है। मुझे दर्शन कहाँ होंगे ?'

'तीर्थों में। और कहाँ ?

राजा ने तीर्थ-पर्यटन पर कमर बाँधी। एक लश्कर साथ चला। सन्तरी और घुड़सवार। खवास और चोबदार। जैसी

सजधज, वैसी ही चहलपहल। ज़मीन की गर्द उड़कर बादल बन गई।

उनकी सवारी सुनहरी तानजाम थी। कहारों की किसमिसी कमख़ाब की वर्दी उनकी प्याज़ी पगड़ियों के कलाबत्तू पर चुटकियाँ लेती थी।

ज्योंही सवारी भीतर से विशाल सिंह-द्वार पर पहुँची, सामने एक कंगाल की दर्दनाक चीख़ कानों पर फट पड़ी।

वे चिहुँक पड़े। सर पर तिलमिलाते ताज को सँभाला। उचक कर देखा—चिथड़ों में लिपटा एक काला-कलूटा कंगाल है, जिसे सिपाहियों ने डंडे की चोट से सड़क के किनारे मार भगाया।

उनका चेहरा एक बार ज़र्द हो गया। मगर वे टोक न सके। सवारी आगे बढ़ गई।

उन्होंने चारों धाम में नाम कमाया। पुरी में लाखों के अटके चढ़े। कहीं जड़ाऊ छत्र और चँवर। कहीं कुन्दन के ज़ेवर।

पुण्य बटोरते-बटोरते हाथ थक गये—जी ऊब आया। लक़दक़ मन्दिरों की माया-मरीचिका आँखों को चौंधिया गई। मगर कहाँ मिले दर्शन, कहाँ मिली शान्ति ?

फूल और प्रसाद तो बहुत पाया, मगर जी का अवसाद न मिटा। मनों सोना गलाकर भी मन न गला। इस पुण्य के

ठेलमठेल पर भी हृदय का कोना सूना ही रह गया। सर का ताज दर्देसर बन कर सर पर छाया ही रहा।

❀ ❀ ❀

राजा घर लौट आये। उनके सोने के थाल के पुलाव और क़लिये फीके पड़ गये।

राजपुरोहित की फिर हाँक पड़ी। राजा ने कहा—'मिश्रजी, मुझे दर्शन तो मिले नहीं, न शान्ति का पता पाया।'

'महाराज! यात्रा पर टोकने की मेरी हिम्मत न पड़ी। मगर फाटक ही पर जो बदशकुन नज़र आया, उसी पर मैं शंकित था।'

'सो क्या?'—राजा ने अकचका कर पूछा।

'वही कलूटा कोढ़ी जो सामने आ पड़ा। उसी नंगे भुच्च ने सरकार की यात्रा पर मनहूसियत बिखेर दी।'

राजा चुप हो गये। उनकी दर्दसरी बराबर बनी रही—'तो भगवान की तलाश व्यर्थ हो गई?'

रात को फिर नींद हराम हो गई। न पलक लगी, न भूख जगी। एक अजब सूनापन घिर आया।

❀ ❀ ❀

पौ फटते राजा फिर फ़कीर की कुटी पर पहुँचे। देखा—

महर्षि के आसन पर वही कलूटा कंगाल बैठा है ! उसके चेहरे पर एक विचित्र आभा-सी टपक रही है।'

राजा ने अकचका कर पूछा—'तुम कौन ?'

'मैं वही हूँ, जिसकी तलाश में तुम तीर्थों की खाक छानते रहे !'

'तुम ?....भगवान ?....नहीं-नहीं, तुम तो वही मनहूस कंगाल हो, जो तीर्थ-यात्रा के समय मेरे फाटक पर आकर....'

'तुमने मुझे पहचाना नहीं। तुम्हारी आँखों पर चर्बी छाई हुई है। कंगाल ही कलियुग का कल्कि अवतार है।'

'कैसे पहचानूँ ? यह तो भगवान का शास्त्रविहित रूप नहीं है। कहाँ है तुम्हारा शंख-चक्र....?'

'इस युग में मेरा यही रूप है। वह किताबी रूप तो दक़ियानूसी हो गया।'

'मगर, इस रूप को कभी किसी ने देखा भी है ?'

'क्यों नहीं ? देखते तो सब हैं, मगर पहचानते हैं लाख में एक। भूल गये ? गौतम ने तो इसी रूप पर अपने ताज को उतार कर रख दिया था !'

'तो फिर मन्दिरों में जो मूर्त्ति है, वह कौन है ?'

'वह तो चितेरे के हाथ की एक मनचीती तसवीर है—मैं नहीं हूँ।'

'मगर पुरोहित-पण्डित तो उसी....'

'वे बेचारे क्या करें ? उनकी तो वह रोटी है—उनकी दूकान का इश्तहार।'

'वाह ! यह कैसे ? आपके तमाम भक्त भी तो उसी रूप पर.....'

'मेरे सच्चे भक्त मुझे प्रत्येक रूप में बराबर देखते हैं—किसी खास में नहीं।'

'तो फिर आपके पाने का उपाय ?'

'मेरी सेवा।'

'मेरे दर्द दिल की दवा ?'

'मेरा आशीर्वाद !'

'मगर मैं तो भगवान की सेवा मुद्दत से करता आया हूँ।'

'तुम भूलते हो। तुमने पत्थर की मूर्त्ति पूजी है—आदमी की मूर्त्ति नहीं। याद रखो, वह मन्दिर में प्रतिष्ठित नहीं है—मानव-शरीर में प्रतिष्ठित है।'

'महाराज ! तो क्या मैं भिखारी से भीख लूँ ? वह दीन क्या देगा ?'

'तुम न समझते हो, वह दीन है ! मगर, उसी की देन तुम्हारे सर पर ताज है। बलि ने भी बामन को दीन ही समझा था—रसातल चले गये ! जिसे तुम अपना आश्रित समझते हो, उसी के तुम आश्रित हो। तुमने भगवान को भूखा

खा है, इसीलिए तुम्हें भूख नहीं। तुम उसका आशीर्वाद नहीं पाते, इसीलिए तुम्हारा अवसाद नहीं मिटता।'

'महाराज! काश मुझे भूख होती—मेरी पलकों को नींद होती!'

'ताज के तले नींद? यह तो तभी मुमकिन है जब ताज के तले त्याग हो—दिमाग़ नहीं। और, भूख? भूखों के गरीब के कप्तान को भूख कहाँ? तुम्हारी भूख तो तुम्हारी भूखी प्रजा खा गई।'

राजा चिन्ता में डूब गये। उन्होंने गिड़गिड़ा कर कहा—'महाराज! मैं जन को जनार्दन तो मान लूँ—नर को नारायण तो समझ लूँ; पर उसमें शक्तिमान् की शक्ति तो नहीं मिलती।'

'दम धरो। अभी तुमने उसका विराट् रूप नहीं देखा है!'

राजा की आँखों के सामने वह मूर्त्ति अन्तर्धान हो गई।

❀ ❀ ❀

राजा लौट पड़े। किले के पास आकर देखा—चारों ओर भूखे कंगालों की सेना विराट् रूप धारण किए उमड़ पड़ी है। उनके हाहाकार के फुत्कार से किले के कँगूरे काँप उठे। उनकी तोपों के ताब में भी वे नहीं आते—उनकी फौज की मौज भी टकरा कर लौट जाती है। वे बाढ़ की तरह बढ़े जा रहे हैं।

राजा ने विराट् रूप के दर्शन पाये। वे सन्न हो गये।

उसी कलूटे कंगाल ने सामने आकर कहा—'अर्जुन ने अपने रथ के सारथि का विराट् रूप जब देखा, तब उसे जाना—वह कोचवान नहीं, भगवान है। तुम्हारे रथ का सारथि तुम्हारी प्रजा है। देखा न उसका विराट् रूप!'

राजा ने सर से ताज उतार कर रख दिया—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये!'

पैसे की घुघुनी

९

कमला भी अजब ज़िद्दी है। जब कभी दम बाँध कर गुस्सा हो जाती है, नाकों दम कर देती है। कोई पसन्द की चीज़ पा गई तो फूली नहीं समाती, और नहीं तो फिर आप-ही-आप उफन-उफन कर फूलती रहती है। दो-दो बच्चों की माँ हो चुकी, मगर बचपन की झूठनी लत नहीं गई। भगवान जाने, कहाँ से लल्लू की माँ की कलाई पर एक नई जालीदार कँगनी देख आई। बस, वही कलूटी कँगनी उसकी आँखों पर छा गई।

दो दिन से आँखें चढ़ी हैं—आँखों पर कँगनी चढ़ी है। मैंने भी कमान चढ़ा रक्खी है। उधर वह तनी है, इधर मैं। आखिर उसके पैर में बेड़ियाँ तो पड़ीं नहीं। वह मुहल्ले की चकल्लसबाज़ी से मुँह मोड़ने वाली नहीं, और बाहर नए-नए नखरे-तिल्ले की नई-नई बारीकियाँ नज़रों के सामने गुज़रती ही रहेंगी। उन चटकीली गुलकारियों को देखकर

उसकी चटोरी लत दून पर होगी और वह चाट का घड़ा फोड़ा जायगा मेरे सर पर।

यहाँ तो मेरी बोटियाँ काँपती रहती हैं; वहाँ उसके चेहरे पर शिकन तक नहीं आती। शायद वह समझ भी नहीं पाती कि मैं कितने पानी में हूँ। सहेलियों ने रहा चढ़ाया और एकाध खिल्ली पान की मजूरी लेकर घर का रास्ता लिया।

कल्लू सर्राफ़ अलग नए-नए कम्पे लगता है। जाल में फँसता हूँ मैं; पर कतरे जाते हैं मेरे। वह तो पर बदल कर मुहल्ले में पर मार आती है।

❀ ❀ ❀ ❀

इधर तीन दिन से आसमान की त्योरी बदली थी। चिलचिलाती धूप। चपचपाती गर्मी। बिजली के पंखे जलते तवे पर हलकी फुहार की तरह छन्न कर रह जाते।

उस पर यह गर्मागर्मी—यह मिज़ाज की ऊमस।

आज तीसरे पहर से आसमान का रुख बदला। हवा चली। कुछ बादल घिरे। मैंने समझा, उधर भी हवा पलटी। उनकी तबीयत भी हरी होगी।

मगर कहाँ? कमला ने चटाई पर करवट तक नहीं ली।

मैंने चुपके से कमरे में क़दम रखा। वह मुँह ढाँपे चुप पड़ी थी—गुम-सुम।

रेशमी हवा पास ही मशहरी की झालरों से अठखेलियाँ करती खूँटी पर टँगी बतासफेनी चादर की ज़रीं कोर को चूमती।

उस मीठी बयार की मुलायम थपकियों ने मेरे मन की बन्द पपड़ियों को हौले-हौले खोल दिया। मैंने नज़दीक जाकर कहा—'कबतक खिंचे रहोगे, कबतक तनी रहेगी ?'

उसने एक बार आँखें तरेर कर देखा। फिर जैसे कुछ सुना ही नहीं, मुँह पर दुपट्टा तान कर तन गई।

'कमला ! जब बाहर की तपिश न रही, तो फिर घर में ऊमस कैसी ? हवा में तरी आ गई; तुम्हारी छाती में तरी नहीं आती ?'

'शुरू हुई तुम्हारी छेड़खानी ?'

'मेरी ! उधर हवा जो आँचल से चुटकियाँ लेने लगी, लटों पर लट्टू हो चली ! उससे क्यों नहीं पूछती ?'

'मेरी शिकायत तो तुम से है।'

'और मेरी शिकायत तो तुम्हारी टेढ़ी नज़रों से है ! ऐसी नज़रों की तो कोई नज़ीर नहीं।'

'कोई नज़ीर नहीं ?'

'और क्या ! जब हवा में नर्मी आ गई तो फिर मिज़ाज में भी नर्मी चाहिये; चितवन में भी चाशनी चाहिये !'

'लगे हवा बाँधने ? तुम्हारे दिल में.....'

'सच मानो, आज छाती उमड़ रही है। तुम्हारी नज़रों को नई कँगनी नज़र है।'

'ज़बानी ?'

'बस ज़बान काट कर रख दी।'

मैंने देखा कि कँगनी और सरकंदनी के दरम्यान किसी एक को चुन लेना ही मुनासिब है। आखिर कब तक यह तनातनी चलेगी ? खसूसन इस बहार के मौसिम में कँगनी से कहीं ज्यादा महँगी यह सरकंदनी पड़ेगी। और फिर उन नज़रों का नज़राना न देता, तो कबतक तिल-तिल दिल का हर्जाना चुकाता रहता ?

कमला आँचल सँभालती चट उठ पड़ी और ख़रामेनाज़ से बलखाती एक अजब अन्दाज़ से लट सँवारती मुस्कराती हुई आँगन की ओर मुड़ गई।

और, कँगनी का बिल हाथों-हाथ चुका गई। उस मुस्कान के मोती कँगनी के नगोने से कुछ कम क़ीमती न थे। ऐसे लाल झर गये कि उनके सामने दस भर सोने के पत्ते कहाँ तक सर उठाते ?

मैंने कहा—'तो तुम नहा-धो लो। मैं ज़रा मैदान की हवा खा आऊँ।'

मैंने हाथ में छड़ी ली, कंधे पर चादर सँभाली; और बाहर चल पड़ा।

घर के बाहर क़दम रखते ही बच्चे आकर सिर हो गये—'बाबू जी, टॉफ़ी लेते आना·····गोल-गोल चॉकलेट भी।'

२

रास्ते में श्रीधरजी मिल गये। वे जाने कहाँ से लपके चले आ रहे थे।

मैंने आवाज़ दी—'कहिये, किधर की हवा है ?'

'अहा ! आप ? आप को भी हवाखोरी सूझी है ?'

हम दोनों थोड़ी दूर भी न गये होंगे कि श्रीधरजी एक टूटी-फूटी झोंपड़ी के सामने ठिठक गये।

'कौन है, बीरू ?'

'जी हाँ, आपका खादिम।'—भीतर से कोई अजब झिझक से बोला।

अधेड़ आदमी। हबन्नक-सी सूरत। चीथड़ों में भी एक अजीब अकड़। दाढ़ी के बाल बढ़कर उसकी कड़ी मूछों की उठान पर हावी हो चले थे। सर के बाल बढ़ कर तमाम चेहरे के आब को हड़प गए रहते, अगर उसकी ऊँची नाक की हैंकड़ी—उसकी तेज़ चमकीली आँखों की रोशनी—अपनी आन पर डटी न रहती।

'कहो भाई, कहीं ठिकाना लगा ?'—श्रीधरजी ने पूछा।

'ठिकाना !—

'कहीं दुनिया में नहीं इसका ठिकाना ऐ 'दाग़',
छोड़ कर मुझको कहाँ जाय मुसीबत मेरी !'

'शायरी रखो, आख़िर बात क्या है ?'

'क्या कहूँ ! तीन दिन से मुन्नो की माँ बुख़ार की शिद्दत से खाट से रही थी। आज हवा जो तरावट लाई, तो भूख उपट आई। बस, भूख के मारे मेरी खोपड़ी खा रही है। अजब माजरा है। ग़रीब के सर पर भूख ही आती है, मौत नहीं आती।'

'बुख़ार तो उतर गया ?'

'जी हाँ, एक बुख़ार उतरा; दूसरा सवार हुआ। इस बला का क्या इलाज हो ? हवा न पलटती, बुख़ार न उतरता, तो वही मेरे लिए ख़ैरियत थी। बस, वही मज़मून—'मर्ज़ तो अच्छा हुआ, मगर मौत आ गई !'

'आख़िर तुमने कुछ खाया है ?'

'जी हाँ, पेट-भर ठोकरें खा चुका हूँ ! चूल्हे की ठंढी राख से बाज़ार की ख़ाक छानने में एक ख़ास ज़ायक़ा है। जी भरता नहीं, भुरभुराता रहता है।'

'अजब आदमी है। तुम्हारे हाथ ख़ाली थे, तो मुँह में ज़बान भी न थी ?'

'हुज़ूर, मुँह में ज़बान भी है, छाती में आह भी है; मगर

असर कुछ भी नहीं। और, हाथ लाख खाली हो, हाथ पसारने की यहाँ आदत ही नहीं। भगवान की देन हमें भूख की ढेरी मिली, जो दिन दूनी रात चौगुनी होती रही है। यह नेमत तो बिरले किसी करोड़पति को नसीब होगी।'

बीरू ठठाकर हँस पड़ा। उसकी उलंग पसली की हड्डियाँ उस हँसी के हिलोरे से उसके फटे कपड़े के झीने आवरण को चीर तड़प उठीं। कुतूहल की जगह यहाँ तो रोएँ खड़े हो गये!

'मुझे पता रहता.....।'—श्रीधरजी ने आप-ही-आप ज़रा आहत स्वर में कहा।

'मैं पता देता चलूँ? अपनी कराहों का इश्तहार बाँटता फिरूँ? कहाँ? किसके घर?—'बुत के बन्दे मिले, अल्लाह का बन्दा न मिला'। पैसेवालों का दिल तो 'वाह' पर उमड़ता है, 'आह' पर नहीं।'

'अजी वाह! आह में तासीर नहीं?'

'तासीर तो मैं तब समझता, जब किसी पत्थर को चीर कर घर कर पाता। हाँ, अगर आह में वाह की रूह हो तो वह एक हद तक असर कर सकती है। मगर मुझे तो आह खींचने में दिलचस्प लटके मालूम नहीं। मुझसे न वाहवाही दी जाती है, न मैं आह भरने की कवायद ही जानता हूँ। मेरी आह की तदबीर में तमाशे की दिलकशी नहीं। वह असर लाए, तो कहाँ से लाए?'

हम दोनों हँस पड़े। उसने एक बार हमारी हँसी के सलीक़े को घूर कर देखा, फिर एक अजब तरीक़े से ठठा-कर हँस पड़ा। वह हँसी थी या—भगवान जाने—बेबसी की अभिव्यक्ति!

"बाबू साहब, हमारे रोने की धुन में न सितार की मीड़ है—न सिसकियों के सुरूर में असावरी का सुर। कोई रीझे तो क्योंकर रीझे! दुनिया ग़रीब की आह पर रोना नहीं चाहती, हँसना चाहती है—रीझना चहती है। हमारी आह पर वाह-वाह हो, हमारी सिसकियों पर तालियाँ पिटें, तभी कोई खुश होकर एक पैसा फेंकता है।

"आप ग़रीब को देते हैं—दानी का नाम पाने के लिए, सरकार से इनाम पाने के लिए या परलोक में अमरधाम पाने के लिये। आपकी 'चैरिटी' भी आपके दिमाग़ की सतह से उठती है, कुछ दिल की तह से नहीं। आप हाथ ऊँचा करते हैं—अपनी नाक ऊँची रखने के लिये।

"क्यों साहब, यही चैरिटी है?—या मूछों पर ताव देने की एक निराली तरतीब है?"

फिर वही बेढंगी हँसी—ही-ही-हा हा। आँखों की वही भद्दी मटकी। वही पकड़ी शेखी। वही चुनाचुनी।

मैंने श्रीधरजी को गोद कर पूछा—'क्यों भई, आज हज़रत ने कुछ पी तो नहीं लिया है? अजब बेतुकी बातें.....'

उसने सुन लिया। झट पलट कर बोला—बन्दानवाज़!

अगर हवा पीना भी कुछ पीने में दाखिल है, तो बन्दा हज़ार बार मुजरिम है। हाँ, जिगर का लहू तो पीता हूँ, मगर पीने की प्यास मिटती नहीं। किसी चरबीली गर्दन का गरम-गरम ताज़ा लहू.....'

और जाने क्या-क्या बड़बड़ाता वह झोपड़ी की ओर मुड़ा—

'ओ मुन्नी! ज़रा दौड़ तो जा। एक पैसे का सागू तो खरीद ला। तेरी माँ के तन में लहू भी न रहा कि उसे पीकर दम लेती।'

बीरू ने फटे कुरते की जेब टटोली, कमर में बँधी धोती की टेंट टटोली और एक पैसा निकाल कर ग़ौर से मुआयना करने लगा।

उधर झोपड़ी की अँधियारी से एक किरण की लकीर-सी फूट पड़ी।

वाह री मुन्नी! इस कीच-कादों से भी रसाल की ऐसी कोंपल फूट सकती है! इस सूने अंधकार से भी यह सोने का रंग निखर सकता है!

उम्र उसकी कोई दस की होगी। बड़ी-बड़ी हसरत-भरी आँखें, आँखों पर काली-काली पलकों की झालरें, झालरों पर भोलेपन की मिठास और उस मिठास पर गरीबी का उपहास! घुँघराली लटों पर मैल की फुहार, एक फटा-सा दुपट्टा, एक

फटा-सा घाँघरा। चेहरा मुरझाया न रहता, गालों पर गर्द जमी न रहती, तो शायद दुनिया की निगाह उस सलोने रूप की आरती उतारती।

मैं एक छन उसे एक टक देखता रहा। फिर श्रीधरजी के साथ आगे बढ़ चला। वह भोलेपन की मूरत आँखों में घर कर गई।

आगे बढ़े तो श्रीधरजी ने छेड़ा—'देखा मुन्नी को? है तो ग़रीब की बेटी, मगर अजब चुलबुला उसका दिल है। अपनी खाल में मस्त रहती है।'

'मगर उसका बाप तो अजब झक्की मालूम पड़ता है।'

'तुम उसे जानते नहीं। वह एक दिन यहीं किसी दफ़्तर का किरानी था। आदमी है अक्खड़। किसी से लाग-लपट नहीं, लल्लो-चप्पो नहीं। बस, पटी नहीं। बड़े बाबू की चिलम भरी रहती तो वे साहब के कान न भरते और न आज उसे आह भरने की नौबत आती। है तो ग़रीब, मगर दिमाग़ में अमारत की बू भरी हुई है। सुना नहीं? लहू का घूँट पीकर रह जाता है, मगर किसी के दस्तरखान की बिल्ली बन कर चूज़ों का शोरवा नहीं सुड़कता। न ऊधो का लेना, न माधो का देना। बीवी कूट-पीस कर घर न चलाती, तो अब तक मियाँ बोल गए होते।'

हम बातें करते चौड़ी सड़क पर निकल आये।

झिर-झिर हवा बह रही थी। सूरज की तप्त किरणें बादल की टुकड़ियों से छन-छन कर गुलाबी हो चली थीं।

सामने पॉल की आलीशान दूकान! मोटरों की चहल-पहल। खरीदारों की हलचल। लेडियों की रू-नुमाई। शौकीनों की खुदपसन्दी। चितवनों की चापलूसी। अरमानों की गर्म-बाज़ारी।

श्रीधरजी तो दूकान के भीतर घुस गये और मैं दरवाज़े के पास खड़ा रंगीनियों का मज़ा लूटने लगा।

सामने दो बड़ी-बड़ी खुली मोटरें खड़ी थीं। उनके इर्द-गिर्द एकाध जेंटिलमैन भी थे। एक हिन्दुस्तानी और विलायती वज़ेदारी की बुकनी, नई आनबान वाली महिला भी थीं। चेहरे पर लिहाज़ की कमी और मिज़ाज की ज्यादती!

उनकी साड़ी का संदली रंग, उनके ज़री आँचल की तरंग, उनके अंगों के राग-रंग पर एक अजब रंग उँड़ेल रही थी। आप पर सरापा रंग ही रंग था। भँवों पर कजरारी गुलकारी, गालों पर नुमाइशी गुलाली, चेहरे पर हिमानी, होठों पर रंजनी। अगर उस सूरत तर उस पैमाने के रंग का छिड़काव न होता, ऊँची नाक पर सोने की कमानी न होती, तो चिपटे चेहरे की खामियाँ खूबियाँ बनकर आँखें नहीं थामतीं।

मोटरों पर सामान लद रहे थे। खाने और पीने की अनमोल चीजें। शैम्पेन और ह्विस्की की पेटियाँ डब्बों में

बन्द समुन्दरी मछलियाँ, खुशरंग केक और पैस्ट्री, जैम और जेली, सॉस और पिकिल की बोतलें, चॉकलेट और टॉफी के डिब्बे।

विलायती नेमतों के साये में कुछ स्वदेशी नमकीन और मीठे भी थे। सेव और समोसे, संदेस और रसगुल्ले।

चोटी में लाल रिबन बाँधे एक दस साल की छोकरी मोटर में बैठी चन्द स्पंजी रसगुल्लों के रस से गला सींच रही थी।

तमाम वायुमण्डल मीठी और सोंधी सुरभि से भरपूर था। बड़ी-बड़ी रकाबियों से रस के पनाले बह-बह कर सड़क की पटरियों को सरफराज़ कर रहे थे।

मैंने अदब से ड्राइवर से पूछा—'आखिर इतने सामान ?'

'वाह ! जानते नहीं ?'—उसने इस तरह फुफकार कर कहा मानो मेरा न जानना एक अक्षम्य अपराध में दाखिल हो,—'कल लेडी बोस के घर लाट साहब की पार्टी है।'

'क्यों, किस बात की पार्टी ?'—मेरी ज़बान से बेवजह निकल पड़ा।'

'अजी, अमीरों की मौज !'

तो, यही लेडी बोस हैं ! एक लम्बी फ़िहरिस्त हाथ में लेकर तमाम सामान का मुआइना कर रही हैं। इधर दिल-बस्तगी के खयाल से बग़ल में खड़े एक तगड़े शेरदहाँ ग्रेहाउंड

के सरपर हौले-हौले थपकियाँ देती जाती हैं, फिर टिन के खुशरंग डिब्बों से बिस्कुट के टुकड़े तोड़-तोड़ कर उसके सामने फेंकती जाती हैं। वह नथने फुला-फुला कर उनका रस लेता है, पूछों के संचार से अपनी खुशी का इज़हार करता है और बार-बार उदार नेवालों के लिए निगाहों से इसरार करता है।

मेरी निगाह जो सड़क पर पड़ी, तो देखा—मुन्नी खड़ी है। आँखों में आँच भर कर रूप-रस-गंध से लबालब कचर-कूट के सरंजाम की इस मीनार को एकटक हेर रही है। कभी आँखें फेरकर कुत्ते के दाँतों तले चूर-चूर होते बिस्कुट को देखती, कभी आँखें उठाकर मोटर पर बैठी उस बालिका के गालों के पहलू में लीन होते हुए रसीले रसगुल्लों की अवली को जोहती।

मुन्नी का चेहरा बेतरह खिंचा हुआ था। एक-एक शिरा तन कर तलवार की धार हो रही थी।

उसके पास शब्द तो थे नहीं—भाव थे। उसके चेहरे पर चढ़कर क्या बोल रहा था—कौन जाने? उसकी चेष्टा की चाह से क्या झाँक रहा था—कौन पूछे? उसकी चितवन की कोर में भूख की ललक थी, कुतूहल था, पुलक था या लहू की लकीर थी—कौन समझे?

वह तो गुम-सुम चुप खड़ी थी! काश चेहरे पर उभरे हुए

वे भाव कहीं बोल पाते ! उस दिल की तड़प कहीं तड़ित् की कड़क बन कर निकल पाती !

वह अपलक दृष्टि मेरी नस-नस में धस गई—रोएँ से फूट निकली।

मुझ से देखा न गया। मैंने जेब से चन्द रेजकारियाँ निकालीं। फिर आगे बढ़ कर कहा—'मुन्नी !'

मुन्नी ने एक बार फरकती हुई निगाहों से मेरी ओर देखा। फिर ज़ोरों से सर हिला कर झिझकती हुई बोली—'दुत्' भिखमंगिन हूँ मैं ?'

'पगली ! यह भीख नहीं !'

उसने मुँह फेर लिया।

बाप रे ! यह तो बाप की बेटी निकली ! मैं टका-सा मुँह लिए लौट आया। उस मिज़ाजदारी पर कुढ़-सा गया—यह फक्कड़ी ! इस फक्कड़ी पर यह हैंकड़ी ! मेरी चौकड़ी गुम हो गई।

इधर सामान का मुआइना खतम हुआ। दूकान के मालिक ने बड़े लिहाज़ की आज़िज़ी से बिल पेश किया। उसी तपाक के सलीक़े से उँगलियों में चेक थामा। दौड़कर मोटर में बैठी छोकरी के रू-ब-रू हँसकर कुछ नमकीन पिश्ते नज़र किये। लेडी साहिबा के कुत्ते की मखमली खाल टटोल कर उसकी खानदानी नस्ल पर ज़बानी फतवा दिया। उसकी पूँछ और

मूँछ की तराश पर रियासती राजचिह्न पाये। लेडी बोस की साड़ी के अंगूरी बॉर्डर को कला का करिश्मा क़रार देकर तपाक को तमीज़ से उसकी नफ़ासत का पुल बाँधा। फिर बार-बार सर से हैट हटाते हुए मोटर का दरवाज़ा खोल दिया। लेडी बोस के साथ उनका कुत्ता भी उचक कर अन्दर दाखिल हुआ। मोटरें पों-पों करती चल पड़ीं।

मुन्नी की तन्मयता टूटी तो वह सर झुकाए आगे बढ़ी। उधर गली के मोड़ से एक मस्तमौला खुंचावाला निकल पड़ा।

'ताजी घुघुनी! चटपटी घुघुनी!!

अजब रसीली मेरी घुघुनी। ताज़ी प्याज़ी चुपड़ी-चिकनी!
खट्टी मीठी तीत सलोनी। पड़ी मसालों की है बुकनी।
मात पुदीने की भी चटनी। अजब रँगीली मेरी घुघुनी!'

बच्चों का काफ़ला टूट पड़ा। 'ओ घुघुनीवाले!' की पुकार चारों ओर से गूँज पड़ी। घुघुनीवाले ने लंबे-सड़क खुंचा रख दिया और लगा पैसे की घुघुनी बेचने भर-भर दोना।

गरर-गरम घुघुनी की रंगीनी हवा में बिखर गई। मुन्नी भी कठपुतली की तरह खिंच आई।

खरीदारों का जैसे मेला जम गया। थाल का माल साफ़ हो चला।

मुन्नी ने चट पैसा थमा दिया—'पैसे की घुघुनी मुझे भी दो।'

वह दोने में घुघुनी लेकर ज्यों ही मुड़ी कि सामने बीरू मौजूद !

मुन्नी ने बाप को देखा; बाप ने मुन्नी को। एक छन सन्नाटे का आलम रहा।

बाप की आँखों में लहू उतर आया। वह भूखे भेड़िये की तरह तड़प उठा।

'क्यों री कलूटी ! तुझे सागू लाने को न पैसा दिया था ? तेरी माँ तड़प-तड़प कर दम तोड़ रही है और तू यहाँ मौज से घुघुनी उड़ा रही है ! दम ले, तेरी.....'

उसने तड़ाक-से मुन्नी की कनपटी पर बड़े जन्नाटे से एक तमाचा जड़ दिया। फिर चटाख-से दूसरे गाल पर मारा। उँगलियाँ साफ़ उखड़ आईं। तमाचे क्या थे—तमंचे थे। लहू की लकीरें गालों पर खिंच गईं।

मुझे तो काठ मार गया। मुन्नी की निगाह जो मुझ पर पड़ी तो शर्म से पानी-पानी हो गई। तमाचे की चोट से यह मान की चोट कहीं चुटीली थी। मैं आड़ में छिप गया।

हाथ का दोना छूट कर ज़मीन पर जा पड़ा। घुघुनी के दाने धूल में बिखर गये। मुन्नी ने चूँ तक न किया। बाप को टेढ़ी नज़रों से देखा। फिर जाने क्या सोच कर आँखें फेर लीं।

इसी बीच दनदनाती हुई ट्रामगाड़ी आकर खड़ी हो गई।

बीरू ने भीड़ जो देखी तो हाथ समेट लिया। फिर जाने क्या-क्या बड़बड़ाता बाईं ओर मुड़ गया। वह जोश-खरोश काफूर था। भीगी बिल्ली की तरह दुम दबाए था। बार-बार जाने किस झक से अपने हाथ को निहारता रहा।

मुन्नी सँभल कर खड़ी हो गई। उसके पैर थर्रा रहे थे। एक छन उसने धूल में सने हुए घुघुनी के दानों को विषाद-भरी दृष्टि से देखा। फिर फफक कर रो पड़ी।

वह आर्तध्वनि मेरी छाती की पंजरियों में झन-झना उठी।

घुघुनी के दाने बिखर कर ट्रामगाड़ी के नीचे जा पड़े थे। वह झुक कर ट्राम के पहियों के तले से उन्हें चुनने लगी।

श्रीधरजी दूकान से निकल आये। मैंने उनसे उस जल्लादी बीरू की करतूत बयान की। वह चुप हो रहे।

मुश्किलन हम दस क़दम गए होंगे कि एक दर्दनाक चीख सुन कर ठमक पड़े। श्रीधरजी झट पीछे लपके। 'बाँधो-बाँधो, ऐं, यह क्या हुआ ?'—कानों पर थर्रा उठा।

सहसा श्रीधरजी ने चिल्ला कर कहा—"हा हा! मुन्नी है। हाथ कट गया। कंडक्टर ने देखा नहीं, गाड़ी चला दी!"

मैं भी दौड़ पड़ा। जो देखा, वह देखना बदा था। हाय! आँखें फूट क्यों न गईं ?

क्या जब तक आँखें फूटतीं नहीं, ये खुलतीं नहीं ?

मुन्नी परकटी कबूतरी की तरह छटपटा कर अचेत गिर गई। कटे हाथ की बँधी मुट्ठी में चंद घुघुनी के दाने ज्यों-के-त्यों चिपके पड़े थे।

बीरू बदहवास लौट पड़ा। उसका जोश तो पहले ही उड़ चुका था, होश भी उड़ गया। वह एकबारगी टूट गया। एक छन आँखें फाड़ देखता रहा। फिर बेचारा पुक्का फाड़कर रो पड़ा—'हाय ! बेचारी दो दिन की भूखी थी—रात की आधी रोटी सुबह भाई को खिला डाला। उफ़ ! मेरा हाथ—यह खूनी हाथ—जिसने बेवजह मासूम पर वार किया, कट कर गिरा नहीं—कट गया उसका हाथ !'

उसने चट अपने दाहिने हाथ पर दाँतों को कस कर गड़ा दिया। लहू फूट पड़ा। वह कटाकट काटता गया—तावड़तोड़।

श्रीधरजी ने लपक कर हाथ थाम लिया। मगर उस पर तो वहशत सवार थी। वह पागल की तरह झटक-झटक कर काटता रहा।

मैं यह खुदकुशी का नज़ारा देखकर दंग था। तमाशबीनों की भीड़ जम गई। चारो ओर से फबतियाँ चुस्त होने लगीं। एक लफंगे ने सीटी बजा कर तालियाँ पीट दीं। कंडक्टर ने ट्रामगाड़ी छोड़ने की घंटी दी। उतरे हुए मुसाफ़िर धड़-फड़ ट्राम पर लद गए।

दूसरी घंटी पड़ी। कंडक्टर ठठाकर हँसा—'वाह पट्ठे !' और गाड़ी छोड़ दी।

बीरू ने पलट कर कंडक्टर को देखा। तड़प कर ट्राम पर कूद पड़ा। लगा कंडक्टर पर दुहत्था झाड़ने। उस लहूलुहान हाथ में एक नई जान आ'गई। लहू के छींटे कंडक्टरी वर्दी पर बिखर गये।

कंडक्टर की खबर लेकर वह ट्राम पर सवार सुफेदपोशों पर टूट पड़ा। जिसे सामने पाया, उसी पर धौल-धप्पा। अजब वहशत थी। कटाहे कुत्ते की तरह गुर्रागुर्रा कर टूटता। जिसे पाता, काट खाता।

ट्राम रुक गई। तहलका मच गया। 'पुलिस ! पुलिस !' की पुकार पड़ी। दो-चार जवानों ने पकड़ कर मुश्कें कस दीं—मुँह में कपड़ा ठूँस दिया। उस पर भी वह झिझक-झिझक कर झटका देता रहा।

मैं तो श्रीधरजी को धक्के देकर दूकान की ओर ले चला। कौन कहे, किस ओर वह पागल टूट पड़े। कहाँ-से-कहाँ मैं इस बला में आ फँसा !

उधर यह हुल्लड़बाज़ी सुनकर दूकान का मालिक लाल-लाल निकल पड़ा। हम दोनों को देखकर वहीं ठमक गया।

सनसनी तो तबतक फट चुकी थी, मगर वह गुस्से में

बौखला उठा—'इन भिखमंगों के मारे तो शहर में साँस लेना मुश्किल है !'

मैं तो चुप था। श्रीधरजी ने घूर कर उसे देखा। फिर ज़रा तेनक कर बोले—'क्यों भाई साहब, अगर कोई यों कहे—इन दौलतमंदों के मारे तो दुनिया में साँस लेना मुश्किल है !'

'खूब ! दौलतमंदों का क़सूर ?'

'खूब ! तो भिखमंगों का क़सूर ?'

'उनका निठल्ला बेकार रहना।'

'और उनका बेवजह मालामाल रहना !'

'तो हम भी भीख माँगते फिरें ?'

'यह कौन कहता है ? मगर न आप भीख माँगते फिरें, न वे ; न आप मालामाल रहें, न वे—यह भी तो एक सूरत हो सकती है !'

'जी हाँ, हमारी और आपकी सूरत अगर एक हो सकी, हमारी और आपकी सीरत अगर एक हो सकी !'

'सूरत एक न भी हो, मगर बदसूरती तो मिट सकती है !'

'तो फिर खूबसूरती की क़ीमत कहाँ रही ? बदसूरती न आज तक मिटी है, न मिटेगी।'

'जनाब, यहाँ पेट की आँच मिटने का सवाल है !'

'भाई जान, शरीर में पेट ही अकेला नहीं है, उसके साथ

दिल और दिमाग़ भी है। सभी का दिल बराबर नहीं होता, सभी का दिमाग़ बराबर नहीं होता।'

'मगर पेट सभी का बराबर होता है। और, पेट ही के तले दिमाग की भी लट दबी है।'

'जी नहीं, दिमाग़ की लपेट में पेट है।'

'लिल्लाह! बस कीजिये। आपके पेट में पेटी न होती तो ग़रीब का पेट पीठ में न होता। आपका पेट भरा न रहता, तो यह दिमाग़ का दिमाग़ न रहता।'

'जनाब, आपको दिमाग़ की देन रहती, तो आप यों पेट बजाते सरेबाज़ार नहीं फिरते।'

मैंने देखा कि बात बढ़ी जाती है—तनातनी की मंज़िल दूर नहीं। बीच में कूद कर कहा—"जनाब! यह पेटवाद और दिमाग़वाद का विवाद तो एक हद तक चल चुका। अब ज़रा दिल की फ़रियाद को भी जगह दीजिये। मैं तो समझता हूँ, दिल न रहा, तो पेट रहा या न रहा, दिमाग़ रहा या न रहा, दोनों बराबर है। असल तो दिल है। उसी पर तमाम शरीर का दारमदार है। वह आबाद है, तो पेटवाद हो या दिमाग़वाद—कोई फ़साद नहीं। वह स्वस्थ है, तो पेट या दिमाग़ बिगड़ कर भी शरीर का दम नहीं तोड़ पाता। साहब, मैं वादों के विवाद में अपना व्यक्तित्व बरबाद करना नहीं

चाहता। दिमाग़वाद तो ला-दिमाग़ रहा ही है, पेटवाद भी एक हद्दतक चलकर दिमाग़ को छू लेता है।"

'तो आख़िर आपका मंशा ?'—श्रीधरजी ने रुख बदल कर पूछा।

'बस, यही कि पेट और दिमाग़ का मसला हल करने के लिए तो तमाम रात और दिन मौजूद है। इस वक्त ज़रा दिल से काम लीजिये। मुन्नी बेचारी को फ़ौरन अस्पताल पहुँचाइए—मरहम-पट्टी हो।'

'हाँ-हाँ, ठीक तो' —श्रीधरजी और पॉल ने एक साथ हामी भरी। मिस्टर पॉल ने चट गराज से मोटर निकलवायी और डाक्टर को एक रुक्का लिख कर, श्रीधरजी के हवाले किया।

भीड़ छँट चुकी थी। पुलिस ने बीरू को गिरफ़्तार कर लिया था। वह अब झनक-पटक कर ज़रा ठंढा था हाँ, आँखें चिनगारियाँ उगल रही थीं।

श्रीधरजी ने मुन्नी के अचेतन शरीर को मोटर पर ला रखा। गाड़ी चल दी।

३

आकाश की नीलिमा में संध्या की अरुणिमा कुंकुम बिखेर चुकी थी। फिर-फिर बयार की फुहार शौकीनों के दिल के कानों में चमन की सरसब्ज़ी का संदेशा सुना रही थी। मगर शायद मैंने तो कुछ सुना नहीं, मैंने तो कुछ देखा नहीं। मेरे दिल में तो काले बादल घिर चुके थे। वहाँ न रंग का निखार था, न मलय का संचार।

उधर श्रीधरजी की मोटर अस्पताल की ओर मुड़ी, इधर मैंने अनमना-सा मैदान की ओर रुख किया।

यों ही टाँग घसीटते चल पड़ा। मोड़ की दूकान से एक बीड़ी मोल ली। एकाध कश फूँका। तबीयत नहीं बहली। सड़क पर फेंक दिया। दिमाग़ में तो बवडर झूम रहा था।

"तो क्या यही संसार है? एक ओर गुल-फुल हाथ पर सोने और पन्ने की गच पिटी जाती है, दूसरी ओर दो दाने चने के लिये गुलाब की कली-सी कलाई कतर गई! उधर फ़रमाइशी विलायती डिशों पर पालतू कुत्ता साँड़ हो रहा है,

इधर एक भूखे परिवार में पैसे के साग़ू के लिये जान के लाले पड़े हैं !

"तो क्या यही जीवन है ?-- जशन और जलन ! हास और ह्रास ! उजेला और अँधेरा !

"तो क्या हमारे महल की रोशनी किसी अँधेरी झोपड़ी पर सीनाज़ोरी है ? हमारा हास किसी के ह्रास पर अट्टहास है ? हमारे जशन की रौनक़ी किसी की जलन पर नमकपाशी है ? हमारे चेहरे का आब किसी बेकस की आह पर मूँछों का ताव है ? हमारी पत्नी के कर की कँगनी किसी उल्लंग पसली पर तानेज़नी है ? हमारे प्लेट पर पुलाव किसी की छाती के लहू का लुआब है ?

"मगर क्या एक ओर निछक्का जशन ही जशन है, दूसरी और निछक्का जलन ? इधर बारहमासी वसन्त-स्पन्दन, उधर बारहमासी अरण्य-रोदन ?

"वाह, यह तो जीवन नहीं। ज़िन्दगी तो चोचों का मुरब्बा है। तो हाँ, सुख और दुःख दैव पर है ? नहीं-नहीं, हमारे मनोभाव पर है—कुछ विभव और अभाव पर नहीं।

"क्या कलँगी के कँगूरों पर आसमान नहीं फटता ? क्या महल की दीवारें ज़लज़ले से नहीं हिलतीं ? ममता की माया अमीरी और ग़रीबी के पटल पर एक-सी नहीं उठती ? चिन्ता की चिता हवेली और झोपड़ी में बराबर लौ नहीं फेंकती ?

"सो तो ठीक। पर रोटी की चिन्ता कुछ और है, मोती की चिन्ता कुछ और। गुदड़ी की गुदगुदी कुछ और है, गद्दे की गुदगुदी कुछ और। टाट की टाटी का ठाट कुछ और है, खस की टट्टी की काट कुछ और।

"तो क्या इस जशन और जलन के दरम्यान कोई ऐसी समान रेखा खिंच सकती है, जो सबके लिये बराबर लागू हो? न अट्टालिका की हैंकड़ी हो, न झोपड़ी की फक्कड़ी! न मोतियों का बघार हो, न भूख की फिटकार! न दिमाग़ का दिमाग़ हो, न पेट की आग! न आपस की छीना-झपटी रहे, न बड़े-छोटे की चढ़ा-ऊपरी! बस, तमाम सुर सम पर रहे। घुघुनी के दाने और मोती के दाने एक दर!

"क्या खूब! हम परिवार में तो समता लाएँ जो संसार में लाने चले हैं! किसी भी बाग़ के सब पेड़ बराबर हैं? किसी भी पेड़ के सब पत्ते बराबर हैं? एक ही बीज के दो अंकुर—दोनों अलग। एक ही अंकुर के दो पल्लव—दोनों अलग। एक ही पल्लव पर दो फूल—दोनों अलग। एक ही फूल पर दो फल—दोनों अलग। न रंग एक, न रूप एक; न पराग एक, न मिठास एक।

"तो क्या विषमता ही सृष्टि की बुनियादी नींव है?—'साम्यं प्रलयः वैषम्यं सृष्टिः!'

"भला, समता कभी मुमकिन है? कभी मुनासिब है?

मानव-जीवन में अगर उत्कर्ष की प्रेरणा न रही, प्रतिद्वन्द्विता की उत्तेजना न रही तो फिर वह जीवन जीवन है ? आत्मा की आज़ादी कहाँ रही ? कहीं एक साँचे में जीवन भी ढल सका है ?

"हमारे सर के सामने पिस्तौल की लबलबी पर उँगली रखकर समता की बूँद हलक के नीचे उतारी गई तो वह अमृत का घूँट रही या विष का घूँट ? वह तिलक रही या आतंक ? हम गोली के डर से उसे निगल तो गए, पर हज़म न कर पाए, तो ?···

"हाँ, तो पूरी समता नहीं आती, तो क्या यह भयंकर विषमता भी नहीं जाती ? घी की चुपड़ी न भी हो, घर-घर साग-रोटी तो हो ! बिजली बत्ती न भी हो, घर-घर तेल की डिब्बी तो हो ! क्या बिजली के खुलकर निखरने के लिए जरूरी है कि उसके ईर्द-गिर्द अँधेरा घुप्प हो ?"

सहसा कंधे पर किसी का हाथ पड़ा। मैं चौंक उठा।

'वाह, रमेश ? तुम कहाँ ?'

'तुम कहाँ ?'

'यों ही, जरा हवा लेने। जी उदास है यार !'

'तो चलो, सिनेमा चलें।'

'सिनेमा ! उहुँक् !'

'क्यों ? उदासी की दवा और क्या है ? यार, इण्टरवल

में मिस नूरी का डांस भी है। एक-एक अदा सीने से कलेजा निकाल लेती है!'

'यहाँ भूख के मारे कितने बेबसों का कलेजा फटा जाता है और हम चलें नूरी के नूर पर कलेजा बरसाने? आखिर हम आदमी तो हैं!'

"जी हाँ, हम आदमी हैं—फ़िरिश्ता नहीं! अल्लाह मियाँ को तो यह फिकर ही नहीं—तुम्हें क्या पड़ी है? तुम्हारे ही सर पर दुनिया का दारमदार है?

'ख़ंजर चले किसी पै तड़पते हैं हम अमीर।
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है।'

"फिर झोपड़ी सूनी है? इधर कला की लहर है, उधर खँजड़ी और चुक्कड़। असर बस एक।"

'हाँ, मगर तुम्हारे चूल्हे की आँच तो नहीं बुझती!'

"दिल तो बुझता है! यही कम है? हमारे लटपटे दिन नहीं आते? बारहमासी दिवाली है?—'किसकी बनी रही है, किसकी बनी रहेगी?' तुम्हें आँसू से मुँह धोना पड़े तो किस दर्दमन्द का दामन तर होगा? आज आलमगीर के नाती-पोते बाजार में अंडे बेच रहे हैं; कोई पुरसाँहाल है? आखिर दुनिया और है क्या?"

'है तो, मगर…'

'बस, मगर-वगर रखो। तुम टिकट न लेना—मैं दूँगा। चलो भी तो !'

वह सिर हो गया। मुझे घसीट कर ले ही गया।

परदा उठा। मैं डूब गया। 'लॉरेल' और 'हार्डी' के विनोद की बंदिशों ने आँत उलट दी।

समोसे पर रसगुल्ला चला। मिस नूरी के लीलायित अंगों की तरङ्ग-लीला ने कुछ और ही समाँ बाँधा। एक-एक अंग की भंगिमा क्या थी, शृङ्गार की मूर्च्छना थी।

कहाँ रही धूल में बिस्मिल मुन्नी की दर्दनाक तसवीर ! कहाँ गई घुघुनी-भरी कटी मुट्ठी की तासीर !

नस-नस में रस का नशा छा गया। नूरी के जिस्म की बुलन्दी और पस्ती पर मैं उठता और गिरता—उसके लहराते गले का लोच लपक कर थाम लेता।

रमेश ने झुक कर कान में कहा—'एक छोटा पेग ?'

'अलबत्ता ! पोटैटो-चिप्स भी !'

मन का वेग और बढ़ा। एक छोटा पेग और चढ़ा। फिर मैंने पेग का बिल चुका कर टिकट का ऋण चुका दिया। तबीयत दून पर थी। वेटर से एक खुशरंग डिब्बा चॉकलेट भी खरीद लिया।

तमाशा खत्म हुआ। रमेश ने टैक्सी तलब की। मुझे घर उतार दिया।

रास्ते भर नूरी के नयनों के नूर की—उसकी चारुता की—चर्चा रही।

❀ ❀ ❀

घर में क़दम रखते ही बच्चे दौड़ आये —'बाबूजी, टॉफ़ी—चॉकलेट !'

मैंने उन्हें डिब्बा थमा दिया। पर्दे के फाँक से कमला ने पूछा—'बड़ी देर लगाई !'

'मत पूछो, हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये।'

'कहाँ ?'

'वही पैलेस में। 'लॉरेल' और 'हार्डी' के गुदगुदे गुलछर्रे थे !'

वह एक छन चुप खड़ी रही। मेरी निगाह उसकी बाईं कलाई पर पड़ी। चटकीली चूड़ियों के बीच एक सोने की लकीर किरण की लौ उगल रही थी।

वह बोली—'तो खाना लाऊँ ?'

'हाँ, लाओ। जरा मुँह-हाथ धो लूँ।'

कमला चौके की ओर मुड़ गई।

मैंने देखा कि कमला वह दिन वाली कमला न थी। उसपर रंग था, रंग की तरंग थी। उसने साड़ी बदल ली थी। बारीक किरेप की किसमिसी साड़ी पर कुमकुमी लचका लचक रहा था। भरसक वह न साफ़ छिपती है, न धड़ल्ले से सामने आती है !

मैंने मुँह-हाथ धोये, और भीतरी बरामदे में तख्त पर बैठ गया। कमला जरा आँखें चुराती-सी हाथ में थाल लिये आ टपकी।

'तो आज मिश्रानी नहीं आई ? तुमने खुद पकाई है ?'

'हाँ'

'इन्हीं कंगन-भरे हाथों से ?'

वह लजा कर लाल हो गई।

'क्या है ?'

'पराठे और घुघुनी !'

'घुघुनी ?'

'हाँ चने की, चटपटी !'

उसने थाली सामने रख दी।

सहसा कलेजे में एक शूल-सा उठा। आँखों में धुँध-सा छा गया। मेरे सामने न वे कंगन-भरे हाथ रहे, न पराठे और चने के चटपटे। कुछ ऐसा लगा, मानो थाल के इर्दगिर्द वही धूल में सनी पैसे की घुघुनी बिखरी पड़ी है और उँगलियों में चन्द चने के दानों को थामे हुए लहू से लथपथ एक सूना सलोना हाथ तड़प रहा है !

'नहीं, आज मुझे भूख नहीं है।'

मैं उठ पड़ा।

'वाह ! हो क्या गई ?' उसने जरा तिनक कर पूछा।

'मत पूछो। एक भूखे की भूख खा गई।'

अचानक बुन्नू की चीख कान पर पड़ी। वह सिसकता हुआ आ पड़ा।

मैंने डपट कर पूछा—'क्या है रे ?'

'भैया ने मेरा चॉकलेट.....'

'क्या ?....'

'चॉकलेट.....'

मुन्नू भी सफ़ाई देने आ पड़ा।

मैं मन-ही-मन भुन उठा। चट उसके हाथ से डिब्बा छीन कर आँगन में फेंक दिया।—'चॉकलेट के बच्चे! किसी को की घुघुनी भी नसीब नहीं—यहाँ मिठाइयों की मौज पर जंग छिड़ी है।'

बच्चों ने रुख देखकर दुम दबायी। मैं अलग आराम-कुर्सी पर जाकर लेट गया।

कमला एक क्षण बुत बन गई। फिर नज़दीक आकर कंधों पर हाथ रख दिया और कानों के पहलू में होंठ ले जाकर मीठे स्वर में बोली—'वाह! आज तो हवा में नमी है, मिज़ाज में भी नर्मी चाहिये। इन नज़रों की तो कोई नज़ीर नहीं!'

'मगर मैं कुछ ऐसे नज़ारे देख आया हूँ।'

'कहाँ? फ़िल्म के पर्दे पर?'

'नहीं, दुनिया के पर्दे पर!'

'वाह ! तो फिर आँखों पर पर्दा क्यों है ?'

'पर्दा ? पर्दा उठ रहा है कमला ! मन में आँधी-सी चल रही है।'

वह और झुक गई। कानों की जड़ में होठों को लगा दिया—'आखिर कब तक यह चलेगी ?'

मैं चौंक-सा पड़ा। फिर सँभल कर कहा—

'अच्छा,.....हाँ..... ...खाना लाओ। सुनो तो.....घुघनी तो ताजी तल दो !

एक अनुभूति

पारसाल जाड़े का जिक्र है। मैं कुछ काम से 'आरा' आया था। एकाएक दोपहर को घर का तार मिला—"माता की बीमारी फिर तरक्की कर गई।"—सुधीर बाबू डाक्टर की तलबी थी।

सुधीर बाबू इस शहर के नामी-गिरामी डाक्टर हैं।

चलते-चलते शाम हो गई। मोटर की सवारी। ४० मील का सफ़र!

इस पैसे के ज़माने में डाक्टर की उँगलियाँ रोगी की नब्ज़ टटोलने के पहले उनकी जेब टटोलती हैं। दिल टटोलने का तो रस्म ही नहीं है। जो रोगी डाक्टर के पाले पड़ा, उसे जीने के ही नहीं, मरने के भी लाले पड़ गये। ज़िन्दा तो वह होता ही नहीं, जल्द मरकर भी पिंड नहीं छुड़ा पाता। मरने के पहले नानी मर गई। फीस की रक़म देखी और जान होठों पर आ गई। साँस नहीं उखड़ी तो पित्ते पानी हो गये। डाक्टर क्या आये, मलकुलमौत के चचा आ गये! खून जाँचने आये और खून चूस ले गये।

सुधीर बाबू ग़नीमत हैं। आप वैद्य भी हैं—सहृदय भी। हाथ में छुरी भी है, छाती में दिल भी। दवा भी देते हैं, दुआ भी। आपकी उँगलियाँ नब्ज़ को छूकर हृदय के कोमल तन्तुओं का स्पर्श करती हैं।

मुझसे जब भेंट होती है, मैं आपसे दर्दे-दिल की दवा तलब करता हूँ। इस यौवन के ज्वार का ज्वर कैसे उतरे, यही चर्चा रहती है। और आप उसके लिये तुलसी का काढ़ा न देकर तुलसी की माला बतलाते हैं! आपकी झोली में भक्ति-रस के रसायन हैं—चैतन्य-चरितामृत के नुस्खे हैं। और, एक बार जब बातों की रफ्तार चली, तो फिर हरिकथा की हरियाली से उचक कर झंखाड़ वेदान्त की मंज़िलें तय होने लगीं।

समय अनुकूल था—हृदय की पपड़ियाँ उभर रही थीं। भाव-भरी संध्या की मूक वाणी प्राणों के पहलू पर बोलती थी। दोनों ओर खेतों में फूली हुई फलियों पर हरहराती हुई हवा, दिल के कानों में जाने किस रहस्य की कथा सुना जाती।

हाँ, तो हसबदस्तूर डाक्टर साहब से फिर वही मार्के की चर्चा छिड़ी—

"डाक्टर साहब, आप तो बड़े आस्तिक हैं। आप ही कहिये, ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? वह है या नहीं....?"

"न जानना, कुछ न होना नहीं होता। जो सामने नहीं है, वह नहीं है—यह आपने कैसे मान लिया ?"

"जो हमारी समझ के दायरे से बाहर है, वह रहा या न रहा, हमारे लिये तो कम-से-कम दोनों बराबर है। क्या सत्य है, भगवान जानें। मगर जब वह हमारी बुद्धि की दौड़ से परे है, तो फिर उस सत्य की सत्ता हमारे लिए तो कुछ रही नहीं! मैं तो समझता हूँ कि उस सत्य के लिये जरूरी है कि हम उसे समझें। जब हम उसे जान नहीं पाते तो....."

"जानने की कभी कोशिश भी आपने की है ? इसे जान लेने के बाद तो दुनिया में कुछ जानना बाकी नहीं रहता। यही ज्ञान तो जगत् का चरम रहस्य है—'यः बुद्धे परतस्तु सः।'

"पहले हमने अपने को भी जानने की कोशिश की ? अगर ईश्वर न होता तो हम होते ? हमीं उसकी हस्ती के सबसे बड़े सबूत हैं। मनुष्य तो कुछ शून्य से चू नहीं पड़ा ? वह न होता तो यह सृष्टि होती ? यह सृष्टि तो कुछ बिना पेंदे का लोटा नहीं है। इसकी नस-नस में शक्ति भी है, शृङ्खला भी। हम सूर्य पर आँख नहीं उठा पाते, आँखें चौंधिया जाती हैं; मगर उसी की रोशनी तो हमारी आँखों के सामने उँजेला देती है।"

"तो फिर उसे जानने का उपाय ?"

"आपकी लगन। जो जान पर खेलता है, वही उसे जान

पाता है। जबतक चारों ओर से हमारी सीमाएँ मिटतीं नहीं, तबतक तो उस असीम का पता नहीं चलता।"

"मगर सर्वसाधारण के लिए तो सीमा तोड़ना आसमान के सितारे तोड़ना है।"

"इसी लिए तो श्रद्धा है। जो दिल की राह जाता है, वही थाह पाता है, दूसरा नहीं। कल्पना के मोहन-मंत्र पर हम लाख थिरकें, पर भाव की मूर्च्छना के साथ-साथ हमारे अन्तर की प्रेरणा न रही, तो कोरी बुद्धि की उत्तेजना कभी कारगर नहीं होगी। जब तक विश्ववेदना का सुर हमारे हृदय के तारों पर नहीं बजता, तब तक तो अनुभूति पनपती नहीं। और, अनुभूति न रही, तो फिर प्रतिभा की दीप्ति रही या न रही। हम उस ईश्वर को हृदय की अनुभूति में तो ढूँढ़ते नहीं, उपासना की पद्धति में ढूँढ़ते हैं।"

"डाक्टर साहब, हम आपसे सहमत हैं। मगर हमारे मन की आँख जो नहीं खुलती—"

"खुले कैसे ? उसकी अनुकम्पा—उसकी रहमत—तो चारों ओर बरसती है। मगर आप तो अपनापन की कोठरी में दिल बन्द किये बैठे हैं। वह रस की बूँद आपके अन्तस्तल तक पहुँचे तो कैसे ? बँगला में रजनीकान्त सेन का एक गीत है—

'आमि तो तोमाय चाहिनी जीवने,
तुमि अभागाय चेयेछ हे।

आमि ना डाकिते हृदयमाझारे,
निजे एसे देखा दियेछ हे ॥'

—'मैंने इस जीवन में तुम्हें कभी नहीं ढूँढ़ा; मगर तो भी तुमने मुझे भुला नहीं दिया। मैंने तो तुम्हें कभी पुकारा नहीं, मगर तुम खुद आकर इस हृदय में दर्शन दे गये।'

"अब आप समझे? वह तो प्रत्येक का पता पूछता है। मगर अफ़सोस! हमको पता नहीं चलता—ऐसी हमारी उलझन है। कब आपने उसे दिल से पुकारा और उसने नहीं सुना? कब आपने उसे दिल से बुलाया और वह नहीं आया? कब आपने आपने दिल के फफोले दिखाये और उसने उस पर अपनी करुणा का चन्दन नहीं लगा दिया?"

तब तक खट्-से आवाज़ हुई। 'क्या हुआ?'—मैंने ड्राइवर से पूछा। उसने मोटर में रखे सामान पर एक नज़र दौड़ाई और बोला—'कोई चाज़ गिर गई!' मैंने कहा—'मोटर रोको और पीछे दौड़कर देखो तो क्या है।'

ड्राइवर दौड़ गया। मैंने बात का सिलसिला शुरू किया—"मगर, दुनिया के कोलाहल में यह पुकारने की आवाज़ हम कैसे उस तक....."

एकाएक देखा, मोटर धीरे-धीरे आगे को बढ़ती जा रही है। ड्राइवर ने ब्रेक ठीक कसा नहीं था। मोटर के कल-पुर्जों की जानकारी से हम तो बिलकुल कोरे थे। अगर मोटर कहीं

सड़क से फिसल गई, तो ? हमारे तो होश हवाई हो गये। दिल पर एक दहशत जम गई !

रात अँधेरी थी—घुप। जब वह पक्की पटरी से उतर कर बैलगाड़ियों की कच्ची लीक पर आ गई, तब हमको सामने खतरा मुँह बाये नज़र आया—सड़क के किनारे आदमक़द गड्ढा है और मोटर उसी विराट् गड्ढे की ओर सरकी जा रही है !

मैंने नौकर को डपट कर कहा—'ब्रेक कसो !' मगर वह भी हमारी ही तरह अनाड़ी था। ब्रेक तो उसे मिला नहीं, गलती से एक्सलरेटर दबा दिया ! मोटर और भी तेज हो गई ! हम लोगों ने दरवाजा खोल कर बाहर कूदना चाहा; मगर बदहवासी में 'सकता' लग गया। मेरी ज़बान से 'या ईश्वर !' अनायास फूट पड़ा ! उधर डाक्टर साहब के भी लब पर कोई दुआ उठी और गाड़ी गड़ाप-से गड्ढे में जा पड़ी।

मोटर उलटते-उलटते बची। लचती हुई, लरजती हुई, गच्-से गिरी—उसी तेज़ी से उस पार ऊपर उठी—फिर लौट कर दुबारा गिरी—इस बार कीचड़ में धँस गई। मगर खड़ी की खड़ी रही।

जान में जान आई। हम दोनों सर से पैर तक थर्राते मोटर से बाहर निकले और निस्तब्ध आकाश के तले आँसू से गीले गले से 'करुणामय' को पुकारना चाहा; मगर हमारे

चारों ओर ऐसी रहस्यमयी असीमता थी कि वाणी थर्राकर मूक हो गई।

मैं जाने किस भावोद्वेग से अभिभूत-विभोर था! क्या कहता? कहने की कोई बात थी? क्या पुकारता? पुकारने की कोई आवाज़ थी? गला भर आया। आखें भर आईं। हृदय भर उठा!

आज तक जिसे न पाया था, उसे पाया! आज तक जिसे न देखा था, उसे देखा! आज तक जिसे न सुना था, उसे सुना! आज तक जिसे न समझा था, उसे समझा!

यह अनुभूति—यह विभूति—सूने हृदय के द्वार पर झाँक तो गई—मगर वहाँ घर न कर सकी—तो?.....

[एक सच्ची घटना

कलकत्ते वाली' की बँधी हुई ताल पर उड़ते हुए स्वप्नलोक में दाखिल हो जाना है।

सेकेंड क्लास के जिस डिब्बे में मैंने क़दम रक्खा था, वह बिलकुल खाली था। बिछावन के गट्ठर को सिर का तकिया बना डाला और चारो खाने चित्त लेट गया। गाड़ी चली। मैंने फिर अखबार उठाया, पर पढ़ न सका। दिल कहता था, थोड़ा भी पढ़ लो; आँखें कहती थीं, एक हरूफ़ भी न पढ़ने देंगी! लाचार गुनगुनाना शुरू किया।

शाम का झुटपुटा था। खपरैलों की झोपड़ियों के झुरमुट पर धुएँ का बादल छा चुका था। गाँव के किनारे, बग़ीचे में सूखी टहनियाँ बटोरती हुई चुलबुली लड़कियों की किलोलें थीं। गेहूँ-भरे खेत की मेड़ों पर बैल हाँकते हुए लँगोटबन्द किसान बालकों की किलचस्प अठखेलियाँ थीं। पेड़ों के बसेरे पर लौटती हुई चिड़ियों की चह-चही चहल-पहल थी। रेल की खिड़की से ये जीती-जागती तसवीरें किसी सुदूर मायामण्डित लोक की रहस्यमयी झलक-सी क्षण-भर दृष्टि-पथ पर चमक जातीं। कहीं-कहीं संध्या की विजनता में अंधकार की निविड़ता बे-वजह काटने दौड़ती थी।

काफ़ी ठंड थी। दाँत कटकटानेवाली सर्दी। पछुवे का झोंका तूस और पट्टू की धज्जियाँ उड़ाकर हड्डियों को हिला

हा था। मैंने कानों में गुलूबन्द लपेटा और चारो ओर से म्बल समेट लिया। बस, झपकियाँ फिर शुरू हुईं।

हठात् किसी के क़हक़हे की आवाज़ कानों पर टकराई। खा, सामने मथुरा बाबू मौजूद हैं। एक हाथ में होमियो-थिक दवाइयों का हैंड-बैग, दूसरे में तेजबल का मोटा डंडा।

मैं तो देखते ही सन्न हो गया। नींद तो काफूर हो ही गई, ानसिक सुखावेश का नशा भी हिरन हो गया। कहाँ मैं ाराम से स्वप्नलोक की सलोनी तितलियों में हिलमिल कर वचर रहा था, कहाँ अब बे-बात की बात पर घंटों सरमगज़न ी नौबत आ गई!

मथुरा बाबू सोसाइटी के ऐसे ख्वाहमख्वाह जेंटिलमैन हैं ो दोस्तों की गर्दन पर सवार होकर सिर खा डालते हैं। कोई ाख किसी उलझन में क्यों न हो, जहाँ आँखें चार हुईं कि उनकी ज़बान दिमाग़ चाटने पर चट आमादा हो गई। फिर तो जी मसोस कर सब्र करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रहता। जब वे बे-पर की उड़ाते हैं तब बेसाख्ता आसमान थाम लेते हैं। यहाँ की बात वहाँ, और वहाँ की बात यहाँ—यह तो चलता सिक्का है ही, साथ-साथ आपके दिमाग़ की टकसाल मे ढली हुई लनतरानियों का तो कोई ठिकाना ही नहीं। न आपकी आँख में पानी टिकता है, न आपके पेट का पानी पचता है सबसे अजीब बात तो यह है कि आप हर जगह रंग उखाड़

कर अपना रंग जमाना चाहते हैं—वह स्याह हो या सफ़ेद। जहाँ ध्रुपद का रंग जमा है, वहाँ आप ग़ज़ल की फ़रमाइश छेड़ बैठेंगे; जहाँ मनचले जवानों में दादरे की धुन छिड़ी हुई है, वहाँ आप ख्याल का ख़याल दिलाने से बाज़ नहीं आएँगे। पॉलिटिक्स की महफ़िल में अध्यात्म के मसले पेश करना आपकी खास आदत है। आस्तिक भक्तों की जमात में आप ईश्वर को दुर्बल मस्तिष्क की औलाद ठहराकर उनकी खाम-ख़यालियों की खिल्लियाँ उड़ाना अच्छी तफ़रीह समझते हैं। आपके बँधे हुए जुमले सुनिए—"क्यों पंडतजी, क्या बग़ैर दैवी वर के या दैवी डर के यह मानव-प्रकृति कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकती? क्यों, आदमी को इन्सान बनाकर रखने के लिये उसका ईमान काफ़ी नहीं?—किसी देवता या दीन के पाक फ़र्मान की हाजत है? इस बोदी भक्ति, इस सिज़दे की गुलामी के बदले अगर आप बुद्धि की शरण लेते तो एक पते की बात भी होती! करुणामय! पतितपावन! क्या खूब! आपकी हौलदिली ने तो करुणामय की बुनियाद डाली! और माफ़ कीजिए, आप अपने को न पातकी क़रार देते और न इस दुनिया में पतितपावन की डौंड़ी पिटती!"

इधर जड़वाद के हिमायती कालेज के आलोक-प्राप्त नवयुवकों की टोली में अनहोनी और अलौकिक दैवी घटनाओं की व्याख्या करके उनके दिमाग़ को दंग कर डालने में भी

आपको खास मज़ा है। "सुनिए साहब, आख़िर इन्द्रियों की दौड़ एक हद तक ही मुमकिन है। जो रहस्य क़ुदरत के पर्दे में रू-पोश है उसका पता आपकी इन्द्रियाँ बेचारी कहाँ तक दे सकती हैं? वहाँ तक तो इनकी गुज़र नहीं। सिर्फ़ इसीलिए उस अदृश्य सत्ता की स्थिति हो नहीं, यह भी कोई बात है?"

ग़रज़ यह कि दुनिया के तमाम मसलों में आप अपनी टाँग अड़ाने से बाज़ नहीं आते, वह सीधी हो या टेढ़ी। यों तो आपकी बात सुननेवालों को लबड़धोंधों नहीं—माकूल ही जँचती है। हाँ, यह बात और है कि उस वायुमंडल के अनुकूल भले ही न हो। बस, लुत्फ़ यह है कि हम जिस चित्र का उज्ज्वल पक्ष देखना चाहते हैं उसका श्याम पक्ष दिखाये बिना आप दम नहीं लेते, और जिस डाल पर फुदुक कर बैठ गये, वहाँ कोई गुल खिले या न खिले, आप बिलकुल बुलबुल बन गये!

मथुरा बाबू होमियोपैथिक डाक्टर हैं। बात-बात में नक्स और पलसैटिला। सल्फ़र और चाइना की चर्चा आम बात है। आपके होमियोपैथिक बूँदों की करामात के क़िस्से सुनते-सुनते तमाम मुहल्लेवालों के कान पक गये, फिर भी उन लनतरानियों का सिलसिला कभी रुकता नहीं। बयान की बन्दिश में आप इस तरकीब से नमक-मिर्च लगा देते हैं कि उनका मज़ा न कभी फ़ीका पड़ा, न पड़ेगा। शुरू होते देर न

लगी कि बादल की तरह उमड़कर मजलिस पर छा गई। हाल में ही आपने रामू की बहू के पेट से मरे हुए बच्चे को एक बूँद पलसैटिला पर बग़ैर कल-काँटे के बरामद कर लिया था। इस किस्से को मुहल्ले के बूढ़े-बच्चे दर्जनों बार सुन चुके हैं, मगर फिर भी उस पर जंग नहीं चढ़ता। इन क़तरों में आबे-हयात का जो दरिया खेलता है उसे मरीज़ समझे या न समझे, मैं एलियोपैथिक डाक्टर होकर भी दसों नख जोड़े तस्लीम करने को तैयार हूँ। और, बग़ैर इसे तस्लीम किये तो मेरा गुज़र ही नहीं, अगर मुझे आदमी के लिबास में रहकर अपनी खोपड़ी की सलामती मंज़ूर है!

आपकी रूप-रेखा, आपकी वेश-भूषा, एक एक का जवाब है। मयाना क़द, सिर पर घुँघराली बुलबुली, चुंधी चुहल-भरी चितवन, नाक पर ऐनक, टूथब्रश की तरह छँटी मूँछें, बाईं कनपटी पर मस्त एक मस्सा, घुटी दाढ़ी, गालों में भरी गिलौरी, खालतेदार पाजामा, भागलपुरी सिल्क का कोट और सिर पर विलायती हैट।

"मथुरा बाबू! आप कहाँ से चू पड़े?"

"मत पूछिए, मर गया!"

"क्यों, खैरियत तो है?"

"जनाब, मरीज़ तो ज़िन्दा हुआ, मगर मेरी जान निकल गई। जिस वक्त मैं रसूलपुर पहुँचा, रात आधी से ज्यादा

गुज़र चुकी थी। देखा, मरीज़ की नब्ज़ छूट रही है। कलरे ने कल्ला दबा दिया था। हाथ-पैर पड़ चुके थे। घर में बावेला मचा था। दो-दो डाक्टर माथे पर हाथ रक्खे हाथ मल रहे थे। मैंने समझा, मामला खत्म है। और साहब, मैं तो दवा करने आया था, कुछ जादू या करामात दिखाने नहीं। मगर भई, वाह री चाइना! एक ही बूँद ने तो मुर्दे में जान डाल दी!"

"करामात!"

"और क्या? आपने सुना ही होगा, रामू की बहू बेचारी पेट में बच्चा लिये टन बोल जाती, डाक्टरी छुरी भी उस पर चल गई होती, मगर....."

"जी हाँ, सुन चुका हूँ, मैदान मा....."

"महज़ एक क़तरे की क़रामात थी जनाब! आखिर आप भी डाक्टर हैं। ऑपरेशन की छुरी हो या इंजेक्शन की सुई; बग़ैर लहू निकाले तो बेड़ा पार न होता।"

खैर, गाड़ी रुकी। क़लाम की दौड़ हठात् टूट गई। एक रेलवे अफ़सर कोट-बूट में लैस गाड़ी में दाखिल हुए।

कैसर की-सी कड़ी मूँछें, गोल गंजा सिर, दिमाग़ में चूर चितवन। आपने एक बार ज़रा ग़ौर से हम लोगों को घूरकर मुआइना किया। फिर जेब से तमाक के साथ पाइप निकालकर राख झाड़ी, उसमें नया तम्बाकू ठूँसा और दियासलाई लगाई। उधरवाले तीसरे बर्थ पर जाकर डट गये। कुली ने

सूट-केस और होल्ड ऑल लाकर रक्खा। साहब का खान-सामा टिफ़िन-बॉक्स लिये सबसे पीछे दाखिल हुआ।

डब्बे में असबाब काफ़ी था। खानसामा ने ऊपर का बर्थ खोलकर उसी पर टिफ़िन-बॉक्स रखना चाहा। उसने बॉक्स ऊपर उठाया ही था कि एक झोंके का धक्का देकर गाड़ी खुल पड़ी। बॉक्स हाथ से छूटकर तड़ाक से बीचवाले बर्थ पर जा पड़ा। ख़ैरियत थी कि मथुरा बाबू उधर नहीं बैठे थे। छुरी, काँटे, प्लेट वग़ैरह झनझना उठे। बिस्कुट और चाय के डिब्बे तखड़-पखड़ हो गये। साहब की ज़बान से 'यू डैम निगर' की गुर्राहट-भरी आवाज़ निकली और आपने बे-वजह तैश में आकर झुके हुए खानसामे की पसलियों पर ताबड़तोड़ दो-तीन ज़बर्दस्त बूट की ठोकरें रसीद कर दीं। खानसामा बेचारा ऐंठ गया। चोट सख्त थी। उसकी आँखों में लहू उतर आया। उसने एक बार चितवन तरेरकर साहब बहादुर को देखा। ललाट पर नसें उभर पड़ीं। होंठों के पल्ले फड़फड़ा उठे। मगर दूसरे ही क्षण भींगी बिल्ली की तरह सटककर एक कोने में खड़ा हो गया।

मथुरा बाबू उचककर मेरे बर्थ पर चले आये। साहब ने एक बार उसी रोब से हम दोनों की ओर टेढ़ी आँखों से देखा और फिर भुनभुनाते हुए बाथ-रूम में दाखिल हो गया।

"सरासर जुल्म है! कोई छाती का पोढ़ होता तो आज

हज़रत के सिर का भूत उतार देता।"—मैंने दबी ज़बान से कहा।

"आप भी कैसी बातें करते हैं? कोट-बूट के मुकाबले बड़े-बड़े जवानों की धोती ढीली हो जाती है।"

"भई, वह ज़माना लद चला। आखिर तो ईश्वर है! कब तक किसी को नादिरशाही निभेगी? ग़रीब की आह····· "

"साहब, कहाँ का ईश्वर!—

'रगों में दौड़ने-फिरने के हम नहीं क़ायल,
जब आँख ही से न टपका, तो फिर लहू क्या है?'

"भला, उन्हें नन्दनवन की सैर से फुर्सत कहाँ? किसी ज़माने में उन्होंने किसी बेबस की फ़रियाद सुन ली होगी—किसी अबला की पुकार पर दौड़ पड़े होंगे, मगर आज तो तमाम मुल्क बरसाती चीटियों की तरह बेबसों से भरा पड़ा है। अब वे किस-किस की पुकार पर कमर कसते फिरेंगे? आप क्या समझते हैं कि खुदा मियाँ साहब की गोशमाली के लिये अपनी उँगली उठायेंगे? साहब, 'वे दिन चले गये जब पसीना गुलाब था!"

गाड़ी स्टेशन पर जा लगी। मथुरा बाबू फ़ौरन पान की तलाश में प्लेटफार्म पर उतर पड़े। खानसामा बेचारा सिर झुकाये कोने में ज्यों-का-त्यों खड़ा रहा। उसकी सूरत पर मुझे

तरस आ रही थी। आहिस्ता से उसकी ओर मुड़ा और अपनी हमदर्दी ज़ाहिर की।

उसने कनखियों से अपनी कृतज्ञता दिखाई और उँगली उठाकर गुसलखाने की ओर इशारा करते हुए साँसी में कहा—"क्या करूँ बाबूजी, छाती फाड़कर खटना है। मेरी कमाई पर कितने बेबसों की रोटियाँ चलती हैं; नहीं तो, भला मैं इस ज़ालिम की जूतियाँ सीधी करता?"

मैं चुप हो गया। सिर पर पैर रखनेवाले कभी सिर ऊँचा नहीं कर पाते।

हठात् किसी के गाने की आवाज़ कान पर पड़ी। खिड़की से झाँककर देखा, एक बूढ़ा बैरागी लाइन के उस पार खँजड़ी बजा-बजा कर मीठे स्वर से गा रहा है—

"तेरी करनी तुझे लौटकर रस देगी या रिस देगी।
तेरी नीयत फूल-फैल कर मधु देगी या विष देगी॥
भला कर तेरा भला होगा।
बुरा कर तेरा बुरा होगा॥"

मेरे कान खड़े हो गये। बड़ी तन्मयता से सुनता रहा। सच है, दिल डालने से ही दिल मिलता है। घात के बराबर ही प्रत्याघात होता है। मगर.....

ट्रेन की सीटी पड़ी। मथुरा बाबू पान चबाते कमरे में दाखिल हुए। इधर साहब बहादुर गुसलखाने से हाथ-मुँह

धोये; बाल सँवारे निकले। सोप और क्रीम की एक भीनी ख़ुशबू चारो ओर बिखर पड़ी।

ट्रेन चली। मैंने जेब से एक एकन्नी निकालकर भिखारी की ओर फेंक दी।

साहब ने टिफ़िन बॉक्स खोला। एक लम्बी-सी बोतल निकाली। क़ागज़ में लपेटा हुआ गिलास बाहर किया। सोडा-वाटर की बोतलें नमूदार हुईं। पेग का वक्त हो चुका था। निशादेवी की आराधना के लिए ह्विस्की का अर्घ्य देना ज़रूरी था।

साहब ने गिलास में मये-गुलरंग को ढाला—डबल डोज़। गिलास को ऊपर उठाकर पैमाने का मुलाहज़ा किया। फिर सोडावाटर की बोतल खोलने की तदबीर में मसरूफ़ हुए। कोई तदबीर हाथ न आई! ह्विस्की की गंध दिमाग़ में चक्कर काट रही थी। पैमाने पर निगाह पड़ी तो जान होंठों पर आ गई। आपने चट घुटने टेक कर बायें हाथ के अँगूठे को बोतल के मुँह पर रक्खा और दायीं तलहथी से भरपूर ज़ोर लगा दिया। ज़ोर पड़ा तब बन्दूक छूटने की आवाज़ के साथ बोतल का अंटा उड़ा और साहब बहादुर की कनपटी पर जा लगा। शायद बोतल में गैस ज़रूरत से ज्यादा था। इसीलिये वह शीशे की गोली कारतूस की गोली बन गई। करारी चोट थी; हज़रत वहीं अंटागफ़ील हो गये। शीशे के टुकड़े उड़कर पुटपुर

में धँस गये। खून की दो-एक बूँदें टपक पड़ीं। खानसामे ने दौड़कर साहब का सिर थाम लिया। सुराही के पानी में रूमाल भिंगोकर पट्टी बाँध दी।

हिन्दुस्तानियों की छाती में गुर्दा भले ही न हो, कुछ दिल की कमी तो होती नहीं। मैं तो हक्का-बक्का-सा देखता रहा, पर मेरे मित्र मथुरा बाबू होमियोपैथी का बैग खोलकर आगे बढ़े। उनकी स्नेह-भरी वाणी साहब के कानों में तो जरूर पड़ी होगी, मगर शायद दिल तक नहीं उतरी। उसने फिरकर देखा तक नहीं। लपककर ह्विस्की का गिलास उठाया और एक साँस में साफ़ कर डाला।

मथुरा बाबू मुँह लिये मेरे बर्थ पर आकर बैठ गये। मैंने झुककर उनसे कहा—"कहिए क़िबला, ग़रीब की ओर से तो भगवान् ने बदला दे दिया! 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का मज़मून देखा आपने?"

"आप भी कैसी बातें करते हैं डाक्टर साहब! यह महज़ शुदनी वक्त है। खुदा मियाँ अगर इस तरह बदले चुकाते फिरें तो शायद उन्हें दम मारने तक की फुर्सत नहीं मिल सकती और आज दुनिया का इतिहास ही कुछ और होता। कमज़ोर के सिर पर पैर रखकर ऊपर चढ़नेवाले सितारों के ताज के पहले काँटों में रेंगते रहते और....."

मथुरा बाबू एक लम्बी स्पीच झाड़ गये। उनकी दलीलों

का जवाब देना तो छत्ता छेड़ने का मज़मून होता। कहीं अड़ जाते तो मेरे दिमाग़ के भेजे उधेड़ डालते! मैं चुप की तरह सुनता रहा और जब तक गाड़ी मुँगेर नहीं पहुँची तब तक छत्ते की भनभनाहट-सी बातों की बौछार थम-थमकर छूटती रही।

२

जाड़े के दिन तो बहार की रात की तरह हवा के घोड़े पर सवार आते हैं। आये नहीं कि जाने की धुन पड़ी। जिस गरमागरमी से सर्दी की सुबह के घंटे अपनी ड्यूटी बजा देते हैं, उस गरमागरमी से रोगियों के घर-घर चहल-क़दमी तो मुमकिन नहीं। यहाँ तो गर्म-सर्द उठाना है, पाकिट भरने के पहले दस का मन भरना है, बात पीना है, बात बनाना है। यह सब बातें कुछ बात-की-बात में अंजाम नहीं देतीं। डाक्टरी का पेशा सरकन्दनी का पेशा है।

दिन चढ़े तो घर से निकला था, घर लौटते-लौटते पित्त चढ़ गया। इधर चौखट पर क़दम रक्खा, उधर एक का घंटा पड़ा। श्रीमतीजी की गरम चितवन देखी तो सर्द हो गया।

"अब आ रहे हो मुझे जलाने! सारी चीज़ें ठंडी हो गईं। तुम्हारे लिए फिर चूल्हा गरम करूँगी? बाज़ आई इस....."

"माफ़ करो। मिज़ाज गरम रखने के बदले तुम खाना गरम रखती तो एक काम की बात होती।"—मैंने जरा दबी ज़बान से छेड़ा।

"तुम्हीं गरम करो। मुझसे....."

"कोई मुज़ायका नहीं। भात तो ठंडा हो ही चुका, तुम्हारा मिज़ाज भी तो ठंडा हो! इसे ठंडा करो। फिर रसोई के गर्म होने में एक पल भी नहीं लगेगा।"

श्रीमतीजी झनककर चौके से उठ पड़ीं; बड़बड़ाती हुई ओसारे की ओर बढ़ीं। आख़िर मैंने ज़बान को मुँह में रक्खा और दो-चार गरम-गरम नज़र नेयाज़ कर उन्हें ठंडा किया।

ख़ैर, मेरी मरम्मत के बाद उनकी तबीयत ठंडी हुई। आग की मरम्मत तो चन्द लहमों में हो गई। उपलों की आँच पर रोटियाँ खिल उठीं। मैंने रोटी से निबट कर थोड़ी देर लेट-पोट करना चाहा। आँगन की धूप में चौकी डाल दी थी। आकर लेट गया।

जनवरी की दुपहरिया थी। जाड़े की गुलाबी धूप, कड़ाके की सर्दी; पछेया हवा बरामदे के सामने, मौलसिरी की पत्तियों में, हरहरा रही थी। वहाँ से उचकती तो छाती की पञ्जरियों को कँपाकर दम लेती। मुन्नी चारों ओर आँगन में दौड़-दौड़ कर किलकारियाँ भरती; घुँघराली काकुलों को नचाकर गुड़ियों के गीत गाती। उसकी माँ ओसारे में बैठी गोद के बच्चे को दूध पिला रही थी।

इठात् किवाड़ पर खटखट की आवाज़ आई। वह उठकर कमरे में चली गई। मैंने ज़रा उचककर आवाज़ दी—"कौन है?"

मथुरा बाबू थे। वही डंडा, वही हैंड-बैग। मुझे ज़रा हैरत-सी हुई। आपका वसूल था—'खुदा के घर भी न जायेंगे बे-बुलाए हुए' और खास कर इस वक्त! शाम की बात और है। सैर-सपाटे के लिए एक हद तक चल भी सकता।

मथुरा बाबू मेरे पड़ोसी तो ज़रूर थे, मगर हमपेशा होने की वजह से आपस में वैसी मिल्लत मुमकिन नहीं थी।

मथुरा बाबू के हमराह एक शख्स और थे, जिन्हें मैं पहचान न सका। बूढ़े खबीस, महज़ कमर ही झुकी नहीं थी, चेहरे की झुर्रियाँ-भरी खाल तक लटक गई थी। ऊँचे ललाट पर लटों की छाजनी दूर से सफ़ेद लटपटी पगड़ी-सी नज़र आती थी।

"आप इन्हें पहचानते नहीं? मेरी बस्ती के बूढ़े बाबा हैं।"

"बस्ती के या आपके?"—मैंने ज़रा हँसकर पूछा।

"अजी, तमाम जवार के! आज-कल यहीं शहर की खाक फाँक रहे हैं"

"क्यों खैरियत तो है? कहाँ ठहरे हैं?"

"नज़दीक ही—इसी मुहल्ले में! लड़की सख्त बीमार है।"

"क्या तकलीफ़ है?"

"इसी मशविरे के लिए तो आपकी तलाश है। बुखार के ज़ोर को तो मैंने तोड़ डाला, मगर अभी सीने में जुक़ाम का शोर मौजूद है।"

"न्यूमोनिया तो नहीं है ?"

"आसार तो ऐसे ही हैं। खैर, चलिये तो सही।"

मैंने खूँटी से कोट उतारकर पहन लिया। कंधे पर शाल रक्खा, जेब में इस्टथेस्कोप। साथ चल पड़ा।

दुतल्ला मकान था। छोटा-सा, पुराना। दीवार में ईंटें दाँत निपोरे खड़ी थीं। उनकी फाँकों में कहीं-कहीं घास-पत्ते उग आये थे। मकान में चूना पुता तो जरूर था, पर सफ़ेदी में स्याही और स्याही में मटियाली छाप जगह-जगह मौजूद थी। सामने नाली से सड़ी बू उठकर दिमाग़ को मसल रही थी। रास्ते पर रात के जूठे भात के दाने सफ़ाई की दुहाई दे रहे थे। कौओं की एक पाँत उसी ढेर पर आपस की छीना-झपटी की शोरिश से मध्याह्न की उदास नीरवता में एक विचित्र राग भर रही थी।

हम लोग भीतरी ओसारे की सीढ़ी से ऊपर चढ़ गये। बूढ़े लाला को ऊपर चढ़ना आफ़त का सामना था। मगर बेचारे किसी तरह काँख-कूँख कर हाथ-पैर दोनों की मदद से मंज़िल पर पहुँच गये।

ऊपर एक तंग खुली छत थी। बाईं ओर एक ज़रा कुशादा कमरा था। उसी में हमलोग दाखिल हुए। सामने दो टूटी कुर्सियाँ रक्खी थीं। एक छोर पर बाबा आदम के वक्त की एक पुरानी मेज़ थी। बीचो-बीच कमरे में एक अधेड़ औरत

खाट पर लेटी हुई उँसासें भर रही थी। पैताने एक बुढ़िया अपने आँचल के छोर से रोगी के तलवे सहला रही थी।

हमारे आते ही वह बुढ़िया आँचल सँभालती हुई उठी और सीढ़ियों की ओर मुड़ी।

"कहाँ चली ?"—बूढ़े लाला ने ज़रा तमक कर पूछा।

"बाज़ार।"

"रामू कहाँ है ?"

"बुढ़िया ने अनामिका को लाला जी के दृष्टि-पथ पर नचा कर कहा—हम का जानी साहब ?"

शहर की दाई ! शहर की बेहयाई !

लाला जी मुँह बनाकर चुप हो गये।

मैंने मरीज़ का मुआइना शुरू किया।

मथुरा बाबू सिरहाने की ओर कुर्सी खींच कर जा डटे।

रोगिनी बिलकुल मजबूर थी। बुखार का ग़लबा तो था ही, साँस भी गले में फाँस-सी अटकी थी। उसके ज़र्द चेहरे की सूखी पपड़ियों पर उसके जीवन का करुण इतिहास साफ़ लिखा था। बेचारी विधवा थी। शायद ज़िन्दगी की तलछट ही उन प्यासे होंठों को नसीब रही।

मैंने नब्ज़ पर उँगलियाँ जमाईं। जेब से घड़ी निकाल कर चींटी की चाल-सी ठोकरों को गिनने लगा। पचास तक भी नहीं पहुँच पाया था कि हठात् एक कर्कस आवाज़ कान पर

टकराई। खयाल बँट गया। मैंने दुबारा गिनना चाहा। फिर वही आवाज़—दिल दहलानेवाली ज़ोरदार आवाज़; आँधी के हाहाकार-सी, बाढ़ की फुंकार-सी। दुतल्ले के ऊपर कोई हवाई ज़हाज पास कर रहा है। नहीं-नहीं, नीचे ज़मीन की तह में कोई मशीन धमक रही है।

आवाज़ बढ़ी। छत थर्रा उठी। दीवारें काँपने लगीं! कुर्सियाँ खड़खड़ा पड़ीं। कलेजे में एक हूक-सी उठी। छाती धक्-से कर गई। बात क्या है? सिर चक्कर काटता है या ज़मीन चक्कर काट रही है? मैं गिरा चाहता हूँ या छात गिरा चाहती है? मैंने कस-भर दिल को थामा। आँखें उठाकर बूढ़े लाला को देखा। उन्होंने आँखें फाड़कर मुझको देखा। जो हालत इधर थी, वही उधर भी। हठात् मथुरा बाबू कुर्सी से उचक पड़े—"अजी, भूडोल है भूडोल! भागिए-भागिए!"

मैं तत्क्षण सचेत हो गया। परिस्थिति साफ़ हो गई। लपक कर मथुरा बाबू का हाथ थाम लिया। वे सीढ़ी की ओर क़दम उठा चुके थे।

"वाह! पहले मरीज़ को तो उठाते चलिए। आपके बूढ़े बाबा तो अपनी देह तक नहीं सँभाल पाते।"

"साहब, मैं कुछ घर का फ़ाजिल नहीं हूँ। मेरी बीवी···· बच्चे·····"

मथुरा बाबू का चेहरा फ़क था। वे झटके-से हाथ छुड़ाकर सीढ़ी की ओर मुड़े।

"भरोसा रखिए, ईश्वर है।"—मैंने ज़रा डपटकर कहा।

"आपके होंगे। मैं इस ख़ामख़याली में·····"

मथुरा बाबू की बात पूरी भी न हो सकी। बात-की-बात में वे सीढ़ियों से बदहवास गिरते-पड़ते उतर गये।

हठात् एक जबरदस्त धक्का-सा लगा। यह ज़लज़ले का दूसरा झोंका था। ओसारे का बालारेज़ धड़ाक-से तिलमिला कर जा पड़ा। ज़र्रे-ज़र्रे पर धूल-कंकड़ छा गया। ज़र्रे-ज़र्रे पर आतंक छा गया। उधर रोड़े उड़े, इधर जी उड़ गया। मेरे भी पैर उखड़ चले। छत से एक ईंट टूट कर मेरी कनपटी पर रेंगती हुई मुँड़ेरे पर गिरी। खोपड़ी भिन्ना गई। कड़ियाँ जोड़ों से उखड़ पड़ीं।

भाग कर जान बचा लूँ? इन दो बेबसों को पिस कर ढेर होने दूँ? नहीं-नहीं। अचानक मेरे दिल के कानों में किसी ने झुककर कहा—"तू इन बेबसों की मदद करता है तो तेरी पीठ पर मैं हूँ।" उस विकट संकट के चरम मुहूर्त पर वही परसों रातवाली ट्रेन का दर्दनाक सीन मेरी मानस-दृष्टि पर चमक उठा और उस वैष्णव वैरागी का मर्मस्पर्शी गान मेरे हृदय के पंजरों में गूँज उठा।

मुझमें कहाँ का साहस समा गया! मेरी नसों में जीवट

की बिजली दौड़ पड़ी। मैंने तड़-से उस मरीज़ को दोनों हाथों से उठाकर कंधे पर लाद लिया और बूढ़े लाला की कमर में एक हाथ का सहारा देता हुआ ज़ीने की ओर बढ़ा। कमरे की दीवारें चक्कर काटकर धड़ाम-से आँगन में जा गिरीं। एक पल की भी देर हुई रहती तो हम तीनों उसी ईंट के ढेर में दफ़न हो गये रहते! झिकड़ियों ने उड़-उड़कर मुझे चारों ओर से घेर लिया। झटके की चोट भी लगी, मगर मैं रुका नहीं। किसी तरह गिरते-पड़ते ज़मीन पर आ गया।

इधर सीढ़ियों से उतरा, उधर सीढ़ियों का एक हिस्सा भुस्सियों की तरह उड़कर ढेर हो गया। बूढ़े लाला की रीढ़ की हड्डियाँ छिल गईं। मगर बेचारे किसी तरह सिसकियाँ भरते ज़िन्दा निकल आये।

मकान के सामने एक थोड़ी-सी खुली जगह थी। वहाँ मातम का मजमा था। कितने लोग चिल्ला-चिल्ला कर छाती पीट रहे थे। जान लेकर भाग तो आये, पर बिछुड़े कुटुम्बियों के लिये जान दे रहे थे। उस हाहाकार की विभीषिका में श्मशान की शून्यता भी मिल रही थी।

वहीं बड़ के पेड़ के नीचे किसी की एक टूटी खाट पड़ी थी। उसी पर मैंने रोगिनी को लिटा दिया। उसके ईर्द-गिर्द अपना शाल लपेट दिया और बूढ़े लाला को निगरानी का भार सौंपकर घर की ओर दौड़ा।

दौड़ना नामुमकिन था। पैरों पर लरज़ा, ज़मीन पर ज़लज़ला। फिर भी बदहवास दौड़ा। गिरा और उठा और दौड़ा। सड़क के दोनों जानिब प्रलय की ताण्डव-लीला थी। प्रकृति की विकट भृकुटी देखी—तले की दुनिया ऊपर जा रही थी। दीवारों का हिलना, लरज़ना, लड़खड़ाना, चक्कर काटना तड़ाक-से फटना, कटे रूख की तरह अरराकर गिरना और फिर ज़मीन से उड़कर आसमान पर बादल की तरह छा जाना—एक दर्दनाक नज़ारा था।

मकान आते-आते ज़लज़ले का ज़ोर खत्म हो चुका था। मकान पर पहुँच तो गया, मगर वहाँ मकान था कहाँ! मैं आँखें फाड़ मुँह बाये खड़ा हो गया। सामने ईंट, पत्थर, लोहे-लक्कड़ का एक अम्बार था। मैं कमर थाम कर बैठ गया, फिर दिल थाम कर उठा और पुकारा—"मुन्नी!"

कोई आवाज़ नहीं। मेरे पाँव-तले से ज़मीन निकल गई। ज़लज़ले का तमाम लरज़ा मेरी पोर-पोर में समा गया। मैं थर-थर काँपने लगा। जान उचक कर होंठों पर आ गई। होंठ आप ही आप हिल पड़े। मैंने फिर आवाज़ दी—"मुन्नी! मुन्नी!! ओ मुन्नी!!"

"मैं यहाँ हूँ बाबूजी! इधर आओ।"

"और तुम्हारी माँ, बच्चा?"

"सब यहीं हैं।"

मैं किसी तरह उन ईंटों के स्तूप पर चढ़ गया। क़ुदरत का तमाशा था। मूसा ने तूर की तजल्ली देखी। मकान चारों ओर से बैठ गया था, मगर मेरी स्त्री गोद के बच्चे और मुन्नी को छाती से सिमटाये आँगन के बीचोबीच बेदारा खड़ी थी। उनके सिर और शरीर पर गर्द तो ज़रूर बेशुमार थी, मगर कहीं एक चीस तक नहीं!

छाती उमड़ आई। आँखों में आँसू उछल पड़े। मेरा एक-एक रोआँ-न-जाने किस आवेग से फरफरा उठा।

मुझे अब मुहल्लेवालों की फ़िक्र पड़ी। मुड़कर सड़क पर कूद पड़ा। दो क़दम आगे बढ़ा होगा कि मथुरा बाबू का भतीजा रोता-कलपता सामने नज़र आया।

"क्यों, क्या हुआ, बाबू?"

"डाक्टर साहब, क्या बतावें? मेरा भरा घर उजड़ गया! चचा तो ज्यों ही मकान में दाखिल हुए कि तमाम घर मड़मड़ाकर बैठ गया! हाय! सारा परिवार पिसकर ढेर हो गया! हाय! हाय!!"

"तो आखिर उन्हें निकालने का भी तो बन्दोबस्त करना ज़रूरी है? तुम्हें ताल ठोंक कर.....!"

"आप ज़रा सामने निगाह तो डालिए। इस अम्बार के नीचे हाथी का तो पता नहीं चल सकता, आदमी की क्या बिसात?"

मैंने आँखें उठा कर देखा। ईंट-पत्थर का एक पर्वत-सा खड़ा था। इधर-उधर लोहे की कड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। बस, और कुछ नहीं। हाँ, मथुरा बाबू का वह परिचित हैंडबैग झटका खाकर सड़क की एक ओर मुँह बाये लुढ़का पड़ा था। उसकी आबे-हयात की शीशियाँ चूर-चूर होकर धूल में लुण्ठित थीं; और शुगर-ऑफ़-मिल्क की फूटी हुई बोतल के पेंदे में, बिखरे हुई चीनी के दानों पर, दो कौए झपट-झपट कर चोंच मार रहे थे।

[१९३४ के भूकम्प की एक घटना के आधार पर]

ज़बान का मसला

उस दिन एकाएक मुरारी बाबू से भेंट हो गई। जाने कहाँ से आये थे, कहाँ जा रहे थे। पूछने पर भी कुछ पता न चला। वही हँसमुख चेहरा, वही दिल टटोलनेवाली दृष्टि, वही रफ्तार, वही लदफद लिबास—मस्त मौला!

आप लाखों में एक हैं। निराले रंग-ढंग। आप किस धर्म पर मायल हैं, किस समाज के क़ायल हैं—पता नहीं। आपके विचार तो अक्सर ऐसे आज़ाद हैं कि ज़माने की हवा से भी आप दो क़दम आगे ही उड़ते नज़र आते हैं।

धार्मिक मामलों में तो आप अपनी डफली अलग ही बजाते हैं। साफ़ एलान करते हैं—"भाई, धर्म विश्व-सत्य है—कोई मत या पथ नहीं। यह आत्मा की चरम-अनुभूति है; किसी सिद्धान्त की पाबन्दी नहीं, किसी उपासना की पद्धति नहीं। यहाँ न किसी विधि-निषेध के मानने का सवाल है—न किसी दुरूह तत्व के जानने का। हाँ, हृदय की पपड़ियों का उभर कर निखरने का सवाल ज़रूर है और वह उभार ऐसा हो कि उसका सौरभ असीम के कोने-कोने तक भर जाय। काबा और

काशी, मन्दिर और मस्जिद ने तो हमारे चारों ओर सैकड़ों पाबन्दियों की दीवार खड़ी कर रखी है। इस बद्ध-वायु में पपड़ियों का उभरना आसान नहीं। यहाँ तो धार्मिकता की आड़ में सहृदयता की मुरग़ी हलाल होती है।

"क़ायदे-क़ानून, रस्म-रिवाज, आचार-विचार ये सब तो बाहरी साम्प्रदायिक बखेड़े हैं। ये न दिल से उठते हैं और न असीम तक पहुँचते हैं। जो प्रेरणा हमारे मन के मुँह को असीम की ओर मोड़ सके, वही प्रेरणा हमारे धर्म की आत्मा है। बस, हमें अपना रास्ता आप ढूँढ़ निकालना है—अपनी प्रकृति, अपनी अनुभूति के अनुकूल। वही पथ हमारा एकान्त धर्मपथ है। अगर हम किसी लकीर के फ़क़ीर बने, तो फिर लकीर ही पीटते रह गये! उस लकीर का हीर मिलना टेढ़ी खीर है।"

बस, आप सनातन की रूढ़ियों के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करने से बाज़ नहीं आते। और, कोई सुने या न सुने, समझे या न समझे, आप अपनी धुन के धुरन्धर हैं! आप कह तो डालेंगे ही—बात तीती हो या मीठी।

मुझ पर आपकी नज़र रहती है। हम साथ-साथ घर चले आये।

उस रात को आप बे-वजह मेरे पड़ोसी ईदू मियाँ से उलझ पड़े। सामने उसकी बिसातबाने की दूकान है। जब बैठक में

चौसर बिछती है, तब उसकी हाज़िरी ज़रूरी होती है। आदमी है भी ज़िन्दादिल; मिलनसार। मैं नाहक उससे पूछने गया—'क्यों ईदू! बड़ी देर लगाई। कहाँ थे?'

'हुजूर, मस्जिद में तरावी पढ़ने गया था।'

'वल्लाह! तुम भी नमाज़ी हो?'—मुरारीबाबू बरस पड़े।

'क्यों न हूँगा? पाँचों वक्त पढ़ता हूँ। मज़हब की पाबन्दी ही ऐसी ठहरी।'

'जो पढ़ते हो, उसे समझते भी हो?'

ईदू उनकी तरफ़ आँखें फाड़ कर देखने लगा।

'क्यों, अरबी ज़बान समझते हो?'

'जी नहीं।'

'और फ़ारसी?'

कोई जवाब नहीं। ईदू लगा पैंतरे बदलने।

'तो यह नाव तुम्हारे खेये लगने को नहीं!....और उर्दू?'

'बस, टो-टा लेता हूँ।'

"तो फिर अपने दिल की बात अपनी ज़बान में क्यों नहीं कहते? म्याँ, खुदा को वही दुआ क़बूल होगी जो तुम्हारे दिल से निकलेगी न कि ज़बान से। बी अरबी तो कुछ अल्लाह मियाँ की खास दिलरुबा नहीं!"

'हुजूर, मुझे तो पीर मियाँ के फ़तवे पर चलना है। वे तो कभी इसे मंजूर—'

"तुम्हारे पीर मियाँ को वह भले ही मंजूर न हो; मगर खुदा मियाँ को वह जरूर मंजूर होगी, यह मैं दावे से कहता हूँ। वे तुम्हारी लगन को परखते हैं—न मजमून को, न जबान को। किताबी छन्दों को दुहराते रहना तो कुछ इबादत नहीं, सबक़ सुनाना-सा है।"

ईदू कुछ जवाब दे बैठता। उसको पीर मियाँ की शान के खिलाफ़ कोई नुक़ताचीनी क्योंकर पसन्द आती? मगर मैंने बात का रुख बदल दिया। मुरारीबाबू हँस कर चुप रह गये।

सुबह उठकर देखता हूँ, कुएँ पर मिश्रजी से बहस छिड़ी है।

'क्यों पण्डत, गाएतरी जप रहे थे?'

'जी हाँ।'

'यह क्या बला है, कुछ पता भी है?'

मिश्र जी बुत।

'गीता भी बाँच लेते होंगे! खाक-पत्थर कुछ समझते भी हो?'

मिश्रजी सिट्ट खड़े रहे।

"तो आखिर संस्कोरत जबान में कुछ सुरखाब के पर लगे हैं? क्या बगैर शास्त्र की मुहर पड़े देवताओं के दरबार में किसी अर्जी की गुजर नहीं?"

"वहाँ गुजर हो या न हो, मुझे इसकी खबर नहीं। मगर

यहाँ तो बग़ैर इसके मेरी गुज़र नहीं होती। आख़िर यही शास्त्र—यही ज़बान—तो हमारी रोटी है!"

"रोटी? इसीलिए तुम अपनी खिचड़ी अलग पकाते रहे! मगर अब वह तुम्हारे मुँह की रोटी छिन चली। ख़ैर, तो तुमने भी परलोक की ठेकेदारी शुरू कर दी—कब से?"

'यही एकाध महीने से। बाप की जगह…'

'हाँ, तो तुम्हारे डाढ़ों में भी लहू लग चुका!'

"साहब, आप कैसी बातें करते हैं? हमारी तो कोई दूसरी जायदाद नहीं। बस, जो पूँजी है, वह यही जात है, यही ज़बान है, यही आचार है।"

"आचार? शाबाश! कट्टरता की तंग हाँड़ी में डाल कर तुमने आचार का भी गोया अँचार डाल रखा है! सालोसाल इसे फेरते रहते या दुनियाँ की हवा-धूप दिखाते रहते, तो एक बात भी होती। अब तो वह पड़े-पड़े सड़कर बू दे उठा है।"

मिश्रजी बिचारे मुँह ताकते रह गये। उनको इस मन्तव्य के कील-काँटे कुछ समझ में न आये। इधर मुरारी बाबू ने आचार को लेकर रूई के गाले की तरह धुन डाला।

दूसरे दिन कुछ और ही गुल खिला।

मुरारी बाबू का कहीं पता न था। बारह बजे तक मैं उनकी राह देखता रहा। जब कोई ख़बर न मिली, तब मैंने रोटी खा ली।

दोपहर के बाद जब मैं घर के बाहर निकला तो मुझे एक हंगामा-सा नज़र आया। पड़ोस के मन्दिर के पुजारी मुरारी बाबू के कान थामे गुज़रे। कुछ तनातनी-सी चल रही थी।

'क्यों जी, तुम मन्दिर में क्यों घुस पड़े ?'—यह मन्दिर के पुजारियों की आवाज़ थी।

'भगवान् का नाम लेने; और क्यों ?'—मुरारी बाबू ने कहा।

'यही नाम लेना है ? मन्दिर में नमाज़ ? जाने क्या अरबी-फ़ारसी बड़बड़ा रहे थे !'

'अरबी-फ़ारसी ही सही; मगर थी तो भगवान की वन्दना। बिलकुल वही बात, जिसे तुम संस्कृत में....'

'अबे उल्लू ! कहीं ईश्वर की उपासना तेरी म्लेच्छ-भाषा में होगी ?'

'पंडतजी, ईश्वर किसी के बाप का नहीं है, न किसी के घर का मुतवन्ना है। क्या आपका ईश्वर अलग है, म्लेच्छों का अलग ?'

'जानता नहीं, यह राम का मन्दिर है !'

'तो राम का नाम तुम्हारी किताबी ज़बान में नहीं लिया गया, तो वह राम भी तुम्हारा हराम हो गया ? क्या ज़बान पहले है, भगवान पीछे ?'

'क्या टें-टें करता है ? निकल यहाँ से ! तू ने मन्दिर को भी नापाक कर डाला !'

'मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारा दिल नापाक नहीं होता तो तुम इस घर को नापाक नहीं समझते। साहब! यह तो बस, समझ की बात है!'

दूसरे दिन उनकी ख़ासी मरम्मत मस्जिद में भी हुई। कल उन्होंने मन्दिर में जाकर नमाज़—या ख़ुदा जाने क्या—पढ़ा था, आज मस्जिद में जाकर संस्कृत के स्तोत्र पढ़ने बैठ गये!

मस्जिद के दायरे में यह कुफ्र की पुकार! मौलवियों के कान में यह आवाज़ क्या थी, बर्रे के छत्ते में कंकड़ी फेंकनी थी। बौखलाए हुए मुल्ले मेरे बौड़म दोस्त पर टूट पड़े।

'क्यों बे उल्लू! तू कौन? यहाँ मस्जिद में क्यों घुस आया?'

'क्यों न आता? तुम कैसे आये? इबादत की जगह है, इबादत करने चला आया!'

'तो फिर ख़ुदा के घर में यह कुफ्र की चर्चा कैसी?'

'वाह! ख़ुदा की इबादत कुफ्र की चर्चा क्योंकर हो गई? जो तुम रोज़ कहते हो, वही एबारत यह भी है।'

'तो क्या काफ़िरों की ज़बान में?'

'तुम्हें ज़बान से मतलब है या मज़मून से?'

'ज़बान से; जिस ज़बान में क़ुरानपाक लिखी गई है।'

"भाई जान, ख़ुदाबन्द करीम कुछ मुसलमान नहीं है, न अरबी उसकी ज़बान है। जो 'रब्बुल आलमीन' है, वह किसी ख़ास ज़बान का सरपरस्त क्योंकर हो गया? उसको तो न

तुम्हारी-ऐसी लम्बी दाढ़ी है, न वजू-नमाज़ की पाबन्दी। उसके लिए तो जो कुरानपाक है, वही गीता है, वही बाइबिल !"

"मगर साहब, हमारे लिये तो कुरानपाक ही ठहरी !"

"तुम्हारे लिए ! म्याँ, अरबी समझते भी हो ? यहाँ जितने जुलाहे-कुंजड़े मौजूद हैं, क्या वे इस ज़बान को समझ पाते हैं ?"

"वे समझें या न समझें, खुदावन्द करीम तो इसी को समझता है !"

"लिल्लाह ! क्यों खुदा को नाहक बदनाम करते हो ? उसने अपनी रहमत के खजाने को किसी खास किताब, खास ज़बान के हाथ गिरो नहीं रख दिया है। उसको दिल की ज़बान से ग़रज़ है, किसी मुल्क की ज़बान से नहीं। और तुम्हीं कहो, कहीं दिल की पुकार किसी गैर ज़बान में पुर-असर हो सकती है ? उधर मन्दिर के भीतर किताबी संस्कृत चक्कर काट कर रह जाती है, इधर मस्जिद के दायरे में अरबी गूंज कर रह जाती है। अगर दिल की उठान होती, तुम्हारी अपनी बात रहती, तब न इन गुम्बदों और बुर्जों से ऊपर उठकर उस मंज़िल तक पहुँचती !"

मुरारी बाबू वापस आये। रास्ते में उन्होंने मुझसे बड़ी दर्दभरी ज़बान में फरमाया—

"देखी आपने जाहिलों की करतूत ? इन अल्लाह के बन्दों ने तो आसमान सर पर उठा रखा है। इधर पंडित, उधर मुल्ले;

इधर मन्दिर, उधर मस्जिद। दोनों कुएँ में भंग पड़ी है। भरसक इन कुओं के मेढ़कों की टर्र-टर्र से जान आजिज़ है! जब अरबी ज़बान में अर्ज़ी पेश होगी, तभी खुदामियाँ की मर्ज़ी होगी। और, जब देव-भाषा में विनयपत्तर पेश होगा, तभी छीर-सागर में खलबली होगी। मानों जन्नत अलग है, सरग अलग, कैलास अलग, गोलोक अलग! क्या इस लोक की तलबन्दिथाँ परलोक तक चली गई हैं? तौबा! तौबा!! मैं बाज़ आया इन काबा और काशी के तंग दायरों से। मेरा जो मालिक है, वह किसी खास देश, किसी खास जाति, किसी खास रिवाज, किसी खास लिबास, किसी खास ज़बान या किसी खास किताब का हरगिज़ हिमायती नहीं। उसके लिए तो न मस्जिद की कैद है, न मन्दिर की। वह दिल की पुकार सुनता है, किसी किताब का सबक़ नहीं।

"हम एक शब्द संस्कृत या अरबी तो समझते नहीं, मगर हमारी तमाम विनय-वन्दना, इन्हीं ज़बानों के तंग दायरे से गुज़रती है।

"जब हम उन्हें खुद नहीं समझ पाते, तो फिर हम ईश्वर को अपने दिल की लगी खाक समझा पायेंगे? बस, तोता-मैना की तरह रट गये—चूँकि यही उपासना की पद्धति है या यही मज़हब की पाबन्दी है। मन मगन भले ही हुआ हो, मगर दिल की लगन तो दिल ही में रह गई! यहाँ छाती उधेड़ कर कलेजा

निकाल रख देना है; और यह किसी गैर-ज़बान में कब मुमकिन है ? अव्वल तो प्रार्थना के लिए शब्दों के माध्यम की ज़रूरत ही नहीं। कहाँ मन की सच्ची लगन की तड़प शब्दों में समा सकी है—खास कर बाबा-आदम के वक्त की बोली में ?

"भाई, हमारी अपनापन की प्रकृति कुछ ऐसी है कि हम राम को हिन्दू मान बैठे हैं और रहीम को मुसलमान। एक की ज़बान संस्कृत है, दूसरे की अरबी। एक का हलक़ा मन्दिर है, दूसरे का मस्जिद। राम को हिन्दू क़रार देकर हमने उसकी महत्ता की मिट्टी पलीद की या अल्लाह को इस्लाम का सरपरस्त समझ कर हमने उसकी आलम-गीरी की जड़ खोद डाली—इस तह तक तो हम पहुँच नहीं पाते। यही भूल तो हमें मजहब की दलदल में जा फँसाती है। इसी नासमझी की वजह तो हम राम और रहीम को दो अलग-अलग सत्ता समझ बैठे हैं। आज ज़बान एक होती, तो मजहब की धाँधली में हमारी आत्मा इस हद तक तबाह नहीं हो पाती।

"क़ुरान की आयतों और संस्कृत के स्तोत्रों को बोल-चाल की ज़बान में रखकर अगर जनता की उपासना में प्रचार किया जाय, तो मन्दिर और मस्जिद पर की चढ़ी हुई कलई बहुत कुछ ढीली पड़ जायगी। हमारी आँखें खुल पड़ेंगी। फिर तो न दुआ-ताबीज का जादू चलेगा, न मन्त्र तन्त्र की धाक जमेगी। हम समझ जायँगे कि इस्लाम और राम के दरम्यान दर-असल

कोई दीवार नहीं खड़ी है, बल्कि यह एक ही जड़ की दो शाखें हैं; एक ही मंजिल के दो रास्ते हैं, एक ही सत्य के दो पहलू हैं, एक ही स्रोत के दो बाजू हैं और दोनों एक ही बुनियाद से उठ कर एक ही असीम में जा मिलते हैं।

"मगर हाँ, जो मजहबी कचहरियों के दलाल राम और इस्लाम की रोटी खाते हैं, उन्हें यह सत्य कब मजूर होगा ? इसे मान लेने से तो फिर दाढ़ी और चोटी की तनातनी की जड़ ही कट जायगी और इसी तनातनी पर तो सैकड़ों की लीडरी भी है और रोटी भी। उनको तो अपनी-अपनी किताबी बोलियों के चारों ओर एक अलौकिक रहस्य—एक विचित्र महत्व—सँवार रखना जरूरी है। बगैर इसके तो उनकी दूकान की गर्मबाजारी ही नहीं चलती। अब आप समझे, जो एक हद तक जबान का मसला है, उसे जाहिल जनता ईमान का मसला मान बैठी है।"

"मगर भाई जान !"—मैंने जरा छेड़ कर कहा—"राम और रहीम के दरम्यान महज जबान ही नहीं, ईमान भी है !"

"ईमान ? ईमान किसी के लहू की दौड़ान नहीं है। वह तो संस्कारों का गुलाम है। मन्दिर या मस्जिद के साये में पल कर जवान होता है। जिस वायुमण्डल में पनपा, उसी में सँवर कर रहा। तुम्हीं कहो, अगर इस्लाम का मानी अपने को ईश्वर के अर्पण कर देना है, तो फिर तमाम गीता का निचोड़—'सर्व-धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—कौन-सा नया सिद्धान्त

एलान करता है ? मगर हाँ, दुनिया तो इस मर्म तक पहुँच नहीं पाती। वह तो एक ओर गौकुशी और रोजे-नमाज की पाबन्दी को देखती है और दूसरी ओर माला, तिलक और छूत-छात की पद्धति को। इन्हीं लगावियात की धाँधली में वह भटकती फिरती है। वह पाती है दोनों ओर—मकान अलग, ज़बान अलग, किताब अलग, लिबास अलग, आचार अलग, रिवाज अलग। भला, बुनियादी एकता का उसे पता कब चला है ?"

"तो आखिर आपका दीन ?....."

"मेरा दीन ? मेरा दीन तो दीन को देना है। मेरा दीन तो हर दीन से लेना है।

'आता है वज्द मुझको हर दीन की अदा पर,
मसजिद में नाचता हूँ नाकूस की सदा पर !"